जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

20 जुलाई, 1993

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री संजय कुमार "सुमन" द्वारा प्रस्तुत "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : मूल्य संक्रमण" (सन् 1960 से 1980 तक) शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्री का इस विश्व-विद्यालय अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है। यह श्री संजय कुमार "सुमन" की मौलिक कृति है।

प्रो॰ सावित्री चन्द्र शोभा
निदेशिका
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

प्रो॰ केदारनाथ सिंह
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

1993

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

भूमिका

आधुनिक भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मानव-मूल्यों में संक्रमण जारी है । समाज, साहित्य और दर्शन का कोई भी क्षेत्र इसके प्रभाव से वंचित नहीं दिखता । यही कारण है कि हम स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में विभिन्न स्तरों पर मूल्य संक्रमण का प्रतिबिम्ब किसी न किसी रूप में अवश्य पाते हैं । हालांकि, मूल्य संक्रमण की प्रक्रिया तो कमोवेश इतिहास के किसी भी कालखंड में दिखाई पड़ सकती है । क्योंकि, इस परिवर्तनशील संसार में परिस्थिति, परिवेश और अपनी आवश्यकतानुसार मानव हमेशा या तो पारंपरिक मूल्यों को अपनाकर जीवन उत्थान का प्रयास करता है या पारंपरिक मूल्यों में तोड़-फोड़ की हामी भरता है । यही नहीं समयानुकूल वह नए मूल्यों की सत्ता को स्वीकृति भी देता रहा है ।

मगर, स्वातंत्र्योत्तर भारत में आज हम मानव के सम्मुख उच्च एवं स्वस्थ मूल्यों का संकट है क्योंकि, मूल्य संक्रमण की प्रक्रिया अपने तीव्र कलेवर में सभी क्षेत्रों में स्पष्टतः दिखाई देने लगी है । खासकर, स्वातंत्र्योत्तर भारत में 1960 से 1980 के कालखंड में मूल्य संक्रमण अपनी चरम सीमा पर है ।

इसीलिए, मानवीय मूल्य, जिसे मानवोत्थान का कारक, आदर्श प्रतिमान और मानदण्ड भी माना जाता है, इस मूल्य संक्रमण के दौर में स्वयं

अस्तित्व संकटबोध से ग्रस्त है । यही कारण है कि इस दौर का मानव भी जगह-जगह दिग्भ्रमित, मतिमूढ़ और आदर्श-शून्य दिखाई पड़ता है उसे स्वस्थ, उच्च और आदर्श मानव मूल्यों की अनिवार्यत: तलाश है ।इसकी तलाश के लिए मूल्य संक्रमण के स्वरूप को पहचानने की महत्वपूर्ण आवश्यकता है । इसी आवश्यकता ने मुझे भी हिन्दी कहानी साहित्य द्वारा मूल्य संक्रमण के स्वरूप को पहचानने तथा स्वस्थ और उच्च मूल्यों को ढूँढने की ओर प्रेरित किया । जिसके तुच्छ प्रयास का ही परिणाम है यह लघु शोध-प्रबंध ।

इसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के सन् 1960 से सन् 1980 के दौर की प्रमुख हिन्दी कहानियों द्वारा विभिन्न मानवीय मूल्यों के संक्रमण को दर्शाया गया है । प्रथम अध्याय में मूल्यों के स्वरूप परिभाषा, वर्गीकरण तथा मूल्य और साहित्य एवं मूल्य और कहानी के बीच सम्बंधों की चर्चा की गई है । द्वितीय अध्याय में हिन्दी कहानी के विकास को संक्षिप्त रूप में दिखाया गया है । तृतीय अध्याय में आलोच्यकाल के कुछ महत्वपूर्ण कथाकारों एवं उनके दृष्टिकोण पर संक्षिप्त में विचार किया गया है । चतुर्थ अध्याय में आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त हुए वैयक्तिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों तथा मूल्य संक्रमण को दर्शाया गया है ।

इसी तरह पंचम अध्याय में आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त हुए राजनैतिक एवं सांस्कृतिक व धार्मिक मूल्यों तथा

मूल्य संक्रमण को दिखाया गया है ।

ध्यातव्य है कि मूल्याभिव्यक्ति और मूल्य संक्रमण को दिखाने के लिए आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में उन्हीं कहानियों को लिया गया है जिनमें मूल्याभिव्यक्ति और मूल्य संक्रमण को स्पष्टतः दर्शाया गया है ।

सुविधानुसार, आलोच्यकालीन सम्पूर्ण कथाकारों और उनकी कहानियों को न लेकर कुछ विशिष्ट कथाकारों एवं उनकी कुछ एक कहानियों को ही अध्ययन का विषय बनाया गया है । हालाँकि, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के कहानियों में जीवन मूल्य, मूल्यों का प्रलाप, मूल्यों की तलाश तथा इसी तरह अन्य मूल्यात्मक विवेचन को लेकर विभिन्न कार्यों का विवरण अवश्य मिलता है । मगर, मूल्य संक्रमण को लेकर कोई कार्य विरले ही प्राप्य है।

इसीलिए, प्रस्तुत लघुशोध प्रबंध इस दिशा में कार्य करने का एक लघु मगर उचित प्रयास अवश्य माना जा सकता है। प्रस्तुत लघु शोध- प्रबंध में प्रयुक्त मेरा मूल्यहीन श्रम कुछ नहीं । मात्र, मेरी ममतामयी, करूणा की देवी स्वरूपा "माँ" श्रीमती बासंती "सुमन" के सत्यनिष्ठ मानव मूल्यों के पहचान कराने का ही परिणाम माना जा सकता है ।

इस लघुशोध प्रबंध में जो भी बुराइयाँ और कमी है वह मेरी है

और जो कुछ भी अच्छाइयाँ है वह मेरे पूजनीया गुरू एवं शोध-निर्देशिका की है जिन्होंने अपना अमूल्य सहयोग और सुझाव देकर मुझे कार्य करने में सक्षम बनाया । मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।

अत: स्नेहमयी, ज्ञानदातृ, मानवीय मूल्यों की संवाहिका, महान श्रद्धा और आदर की अधिकारिणी मेरी परम पूजनीया गुरू श्रीमती सावित्री चन्द्र "शोभा"

सम्प्रति : प्रोफेसर
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110 067

के अमूल्य दृष्टि व दर्शन के दिशा निर्देशन से मानवीय मूल्य संक्रमण के इस दौर में हिन्दी कहानी साहित्य द्वारा स्वस्थ और सत्यनिष्ठ मानवीय मूल्यों के अन्वेषण का यह तुच्छ और लघु प्रयास समर्पित है उस मानव जगत् को जो आज भी अमानवीयता का शिकार है ।

संजय कुमार सुमन

- संजय कुमार "सुमन"

विषयानुक्रमणिका

पृ0 संख्या

भूमिका — क से घ तक

प्रथम अध्याय :

विषय प्रवेश — 01-40

मूल्य क्या है ? मूल्य की परिभाषा, मूल्यों का वर्गीकरण, मूल्यों के स्रोत, मूल्य संक्रमण, मूल्य और साहित्य, कहानी और मूल्य ।

द्वितीय अध्याय :

हिन्दी कहानी के विकास का परिदृश्य — 41-73

पूर्व प्रेमचंद युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युग, स्वातंत्र्योत्तर युग ।

तृतीय अध्याय :

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के सन् 1960 से 1980 के बीच के कुछ चर्चित व महत्वपूर्ण कहानीकार — 74-120

राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती अमरकांत, फणीश्वरनाथ रेणु, शिव प्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, रमेशचक्षी, हरिशंकर परसाई, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, महीप सिंह, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, महेन्द्र भल्ला, रविन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल, गिरिराज किशोर, सेवाराम यात्री, डा॰ गंगा प्रसाद विमल, बदीउज्जमा तथा अरोड़ा कामता नाथ, डा॰ माहेश्वर, इब्राहिम शरीफ, हिमांशु जोशी, निरुपमा सेवती, मेहरुन्निसा परवेज, नीमता सिंह ।

चतुर्थ अध्याय :

सन् 1960 से 1980 तक की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण । 121-180

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक व सामाजिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

अजनबीपन, संत्रास, घुटन, अन्तर्विरोध तथा द्वन्द्व सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण

पारिवारिक सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण ।

पिता-पुत्र सम्बंध एवं विवाह सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण ।

भाई-बहन संबंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण ।

पति-पत्नि संबंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण।

स्त्री-पुरुष सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण ।

प्रेम संबन्धी मूल्य और मूल्य संक्रमण ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त आर्थिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

पंचम अध्याय :

सन् 1960 से 1980 तक की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त राजनैतिक और धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण । 181-241

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त राजनैतिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में
अभिव्यक्त धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

उपसंहार : 242-247

xxxxx

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश :

मूल्य क्या है ?, मूल्य की परिभाषा, मूल्यों का वर्गीकरण मूल्यों के स्रोत, मूल्य संक्रमण मूल्य और साहित्य, कहानी और मूल्य ।

प्रथम अध्याय

मूल्य क्या है ?

"मूल्य" शब्द संस्कृत की "मूल" धातु में "यत्" प्रत्यय लगाने से बना है जिसका अर्थ कीमत मजदूरी आदि होता है ।"[1] "इसके प्रयोग और अर्थ के संबंध में इतना मतवैभिन्नय है कि आज का दार्शनिक पूरी गम्भीरता और संचेतना के साथ मूल्य के विषय में आग्रहशील है ।"[2] इसीलिए कहा जा सकता है कि "मूल्य शब्द दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि से सम्बद्ध होने के कारण अनेकार्थी हो गया है । कभी-कभी तो उपयोगिता को ही मूल्य कह दिया जाता है ।"[3] इसी तरह, "मनोविज्ञान के अन्तर्गत मूल्य मानवीय आवश्यकता (इच्छा) की संतुष्टि के लिए प्रयोग में आता है ।"[4] भारतीय दर्शन के अनुसार तो मोक्ष ही चरम मूल्य है । गणित शास्त्र की सम्पूर्ण प्रणाली तो मूल्यों के शोध पर ही आधारित है । धर्मशास्त्र में भी मूल्यों पर ही सम्पूर्ण धर्म का ढांचा टिका हुआ है । कुछ मनोविज्ञानवेत्ता तथा समाजशास्त्री सहज ज्ञान और इच्छा को आधार बनाकर ही मूल्य शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते है ।"[5] "वे लक्ष्य आदर्श और प्रतिमान की संजीवित समग्राकृति (गेस्टाल्ट) की मनोग्रंथी को ही मूल्य कहते है ।"[6] लेकिन "मानविकी के संदर्भ में मूल्यका अर्थ है जीवन-दृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई, जिसे हम सक्रिय नार्म भी कह सकते है "[7] कभी-कभी तो लक्ष्य, आदर्श, प्रतिमान, मानदंड, नार्म से मूल्य के अर्थ का भ्रम हो सकता है जबकि सभी के स्वतंत्र अर्थ है । जैसा कि

समाजशास्त्री राधा कमल मुकर्जी ने लक्ष्य, आदर्श, नार्म और मूल्य का अन्तर भी स्पष्ट किया है । उनके अनुसार "मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं तथा तज्जनित तनावों से लक्ष्य उद्भूत होते हैं । लक्ष्यगत वैविध्य में से एक लक्ष्य का चुनाव कर लेने पर तनाव समाप्त हो जाता है । उन लक्ष्यों में से चुनाव के द्वारा आदर्श बनते हैं । इन आदर्शों में से नार्म बनते हैं तथा आन्तरिक स्वरूप धारण कर लेने पर नार्म ही मूल्य बन जाते हैं ।"[8]

डा॰ नगेन्द्र तो मूल्य शब्द को साहित्य से बाहर का समझते हैं । उनका कहना है कि "मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द साहित्य के शब्द नहीं हैं । पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्य शास्त्र से किया गया है ।"[9] "सम्पूर्ण स्थिति का अवलोकन करने के उपरांत यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि इन समस्याओं के उत्पन्न होने का मूल कारण यह है कि मूल्य शब्द किसी निश्चित एवं विशिष्ट अर्थबोध से सम्पृक्त नहीं है । अपनी-अपनी आवश्यकताओं एवं रूचियों के अनुरूप प्रयोक्तृवर्ग इस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में करता रहा है ।"[10] युग और देश काल के साथ विचारों में परिवर्तन होने के साथ ही इसके अर्थ में भी परिवर्तन होता रहा हैं । फलस्वरूप दृष्टि भिन्नता के कारण मूल्य का स्वरूप विवादग्रस्त विषय का रूप धारण कर लिया ।

मगर यह आसानी से स्वीकार किया जा सकता है कि "मूल्यों का संबंध मनुष्य की चेतना से अनिवार्यत: है । ··· मूल्य का संबंध मात्र ज्ञान, मात्र इच्छा या मात्र भावना से नहीं है अपितु मूल्य समग्र चेतना का विषय है ।"[11] डा॰ धर्मवीर भारती ने भी लिखा है कि "मानवीय मूल्य विराट

मानव जीवन की अगणित शिराओं में संचरित होता रहता है । जहाँ भी यह रक्त प्रवाह रूका वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सुख जाता है । बेकाम हो जाता है ।"[12] अत: मूल्य पूर्ण रूप से मानवीय भावनाओं एवं इच्छाओं पर निर्भर होते है । अन्तिम रूप में यह मानव-विश्वास से संबंधित होता है ।"[13] और यही "मानवीय अभिलाषाओं में से संकलित सुन्दर, आकर्षक तथा सम्पूर्ण जीवन के लिए महत्वपूर्ण अभिवृतियाँ, नार्म बनने की प्रक्रिया से गुजरती हुई मूल्य का रूप धारण कर लेती है ।"[14]

विद्वानों की भी मान्यता है कि "मूल्य एक धारणा है जिसका निर्धारण मनुष्य की चेतना करती है ।"[15] हम जानते है कि चेतना और धारणा अमूर्त होता है तो स्वाभाविक ही है कि उससे निर्मित या सृजित मूल्य भी अमूर्त ही होगा । अत: अमूर्त को शब्दों में बांधना भी एक जटिल कार्य ही है । यही कारण है कि कुछ लोग मूल्य की परिभाषा करना भी कठिन समझते है । PAULROUBICZEKतो लिखते है कि "मूल्य एक ऐसी वस्तु है जिसको पूरी तरह से परिभाषित नहीं किया जा सकता ।"[16] फिर भी इसके संबंध में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि "मूल्य की कल्पना मानव-अस्तित्व को उसके पूर्ण रूप में स्वीकृत किए बिना संभव नहीं है ।"[17] यही नहीं बल्कि कहा तो यह भी जाना चाहिए कि "जीवन को सम्यक एवं संयमित ढ़ंग से चलाने के लिए ही विचारकों ने ऐसा अनुभव किया कि जीवन के लिए कुछ मापदण्ड रहना चाहिए । उन्हीं के आधार पर मूल्यों की बात की जाने लगी और जीवन की आंतरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं के आधार पर कुछ कसौटियां बनाई गई । ये कसौटियां ही मूल्य है ।"[18]

अत: मोटे तौर पर कहा जाय तो "मूल्य और कुछ नहीं, व्यक्ति द्वारा उच्चादर्शों की प्राप्ति का मानदण्ड ही है जो यह प्रदर्शित करता है कि जीवन कैसा होना चाहिए ? अस्तु, जीवन की सार्थकता मानव मूल्यों को स्वीकारने में ही निहित है । अत: उन्हें ही जीवन का मूल्य माना जाना चाहिए जिससे मानव का उत्कर्ष संभव हो ।"[19]

मगर इस संबंध में एक बात विचारणीय है — व्यापक संदर्भ में मूल्य में अच्छे और बुरे पक्षों का स्वाभाविक तौर पर समाहित होना । क्योंकि, हम जानते है कि जीवनोत्कर्ष के लिए अच्छे और बुरे सभी चीजों की आवश्यकता होती है और इस संसार के सभी भौतिक तथा अभौतिक चीजों में अच्छे एवं बुरे पक्षों का समावेश होता है । तभी तो स्टीफन ो॰ पेपर जैसा विद्वान व्यापक संदर्भ में अच्छे एवं बुरे किसी भी चीज को मूल्य मानने के पक्ष में है । जैसा कि उन्होंने लिखा है कि "THE SOURCES OF VALUE IN THE BRODDEST SENSE ANYTHING GOOD OR BAD IS A VALUE." 20

जाहिर है कि ऐसी स्थिति में मूल्य का स्वरूप उलझा हुआ लगता है, क्योंकि "कहीं मूल्य दुख-सुखों पर आधारित होता है तो कहीं यह इच्छा का विषय है । कहीं पर इसे भावना से सम्बद्ध माना गया है तो कहीं यह रूचि का विषय है । कहीं यह मूल्यांकन का आधार है, तो कहीं यह सत्य के रूप में तो कहीं श्रेय के रूप में ।"[21] इसी तरह, सुखवादी कहते है कि मूल्य वह है जो मनुष्य की ईच्छा को तृप्त करे । विकासवादी कहते है कि मूल्य वह

है जो कि जीवन वर्धक है और पूर्णतावादी कहते है कि मूल्य वह है जिससे आत्म लाभ का विकास हो ।"[22]

इसीलिए यह स्वीकारना न्यायोचित है कि युगीन संदर्भ में सामाजिक परिवर्तनों के साथ ही विचारों के परिवर्तन के फलस्वरूप ही मूल्य का स्वरूप भी बदलता रहा है । "हर युग अपने व्यापक मनोभाव और सर्जन की क्षमता अथवा आंतरिक आवश्यकताओं के अनुसार इन मूल्यों की प्रक्रिया की सीमा तथा दिशा को निर्धारित करता है ।"[23] समस्त काल में इस निखिल सृष्टि और इतिहासक्रम का नियंता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता को माना जाता था । समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिक से अधिक उस सत्ता से तादात्मय स्थापित करने की चेष्टा करे ।"[24] मगर, युग परिवर्तन के बाद जब मानव ने स्वयं की सत्ता को पहचाना । मानववाद का उदय हुआ तो "मानववाद के उदय काल में ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इन मूल्यों का विधायक मानने की प्रवृति विकसित होने लगी थी । .... इस समय पहली बार यह स्वीकार किया गया था कि पुराने मूल्य अब मिथ्या पड़ने लगे है ।"[25] आज भी मूल्य नित्य नए स्वरूप में हमारे सामने उपस्थित हो रहे है । अत: मूल्य को परिभाषा-बद्ध करना सही मायने में कठिन कार्य है । फिर भी विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसकी परिभाषा करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है ।

मूल्य की परिभाषा

पाश्चात्य विद्वानों में ज्यादातर विद्वानों ने मूल्य के संबंध में जो मान्यताएं व्यक्त की है वह नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की दृष्टि पर आधारित है ।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में कहा गया है कि "मूल्य जीवन के अस्तित्व एवं उसकी प्रगति के संदर्भ में व्याख्यायित होते है ।"[26]

जान एफ॰ डूबर ने मूल्य को सामाजिक विषय का एक अंग माना है यथा "VALUES ARE PART OF THE SUBJECT MATTER OF SOCIOLOGY."[27]

एच॰ फीचर ने भी मूल्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिभाषित किया है । उनके अनुसार, "समाजशास्त्र में मूल्यों की परिभाषा ठीक उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार समूह या समाज को मनुष्यों, उसके सिद्धांतों, उसके लक्ष्यों तथा अन्य सामाजिक संस्कृति विषयक तत्वों से निर्णीत किया जाता है ।"[28] उसके दृष्टि में "मूल्य वे मापदण्ड है जो संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्व प्रदान करते है ।"[29]

स्टीफन सी॰ पेपर ने कहा है कि "मूल्य एक ऐसा विषय है जिसमें चरित्र संबंधी समग्रता का ग्राह्य सिद्धांत आवश्यक माना गया है ।"[30]

पाल ने मूल्यों के संबंध में लिखा है कि - "प्रत्येक मूल्य का अनुकूल एवं प्रतिकूल महत्व होता है । प्रत्येक वस्तु के मूल्य निर्धारण में बहुत से विषय

और घटनाएं कृत्य और अनुभवों यहां तक कि स्वयं मूल्य के प्रति भी हम बंधे हुए है । किसी भी वस्तु को स्वीकार करने में वे मूल्य कभी तो हमें सहयोग देते है और कभी हमारा विरोध करते है ।"[31]

वॉटर गोल्ड स्कमीड्ट के अनुसार "मूल्य समाज में वास्तविक प्रभाव खोजने के सांस्कृतिक माध्यम है ।"[32] उनके अनुसार "मूल्यों की धारणा का एक महत्वपूर्ण पहलू घनिष्ठ रूप से हमारी स्वीकृत आवश्यकताओं के वास्तविक प्रभाव से संबंधित है ।"[33] के॰ यूंग और मैक ने कहा है कि "मूल्य वस्तुत: सत्य और महत्वपूर्ण के प्रति अन्जान मान्यताएं है । कुछ मूल्यों का समुदाय प्रत्येक संस्कृति के केन्द्र में निहित रहता है । किसी भी संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषताएं आधारभूत मूल्यों का प्रतिबिम्ब होती है ।"[34]

उपरोक्त पाश्चात्य विद्वानों के लगभग दिए गए परिभाषाओं से जाहिर होता है कि मूल्य वे है जिन्हें समाज स्वीकार करें तथा जो मानव के हित को प्रदर्शित करे ।

इसके अतिरिक्त हमारे देश के महत्वपूर्ण समाजशास्त्री डा॰ राधाकमल मुखर्जी का भी मानना है कि "मूल्य समाज स्वीकृत इच्छाएं तथा लक्ष्य है जिनका अन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो कि प्रतीति अधिमान्यताएं मान तथा अभिलाषाएं बन जाती है ।"[35]

हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने भी इस पर अपने मत व्यक्त किए है जो निम्नलिखित है :-

कवि दिनकर भी मूल्यों का समाजशास्त्रीय महत्व स्वीकारते है । उनकी दृष्टि में मूल्य आचरण के सिद्धांतों को कहते है । वे लिखते है कि "जो मूल्य वाणी की शोभा है, आचरणों के आधार नहीं ; वे अगर व्यर्थ मान लिए जाएँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?"[36] इसीलिए वे कहते है कि "मूल्य वे मान्यताएं है जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और जिसकी उपेक्षा करने वालों को परंपरा अनैतिक, उच्छृंखल या बागी कहती है । किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पुराने मूल्यों को मिटाकर उनकी जगह नए मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्ति भगवान बन जाते है ।"[37]

राजशेखर ने भी मूल्य के लिए संस्कृति एवं समाज सम्बन्धी दृष्टि को ही अपनाया है । उन्होंने लिखा है कि "प्रत्येक समाज की चाहे वह नवीन हो या प्राचीन, आधुनिक हो या आदिवासी - अपनी संस्कृति होती है । प्रत्येक समाज में कुछ विश्वास, कुछ रीतियां और कुछ रिवाज होते है । ये विश्वास तथा रीति-रिवाज उस संस्कृति का एक अंग बन जाते है । समाज का कोई भी सदस्य इनसे हटकर नहीं रह पाता । विश्वासों और रीति-रिवाजों का आधार कुछ पूर्वगामी घटनाएं होती है, तथा कभी-कभी दैविक विश्वास भी होता है । समाज और उसकी संस्कृति का अंग होने पर ये एक अमूर्त रूप ले लेते है ; यही अमूर्त रूप मूल्य बन जाते है ।"[38]

डा॰ श्री राम नागर के अनुसार, "मनुष्य के मनुष्यत्व को सिद्ध करने वाले ऐसे अनेक गुण या तत्व होते है, जिनके अभाव में उन तत्वों की उपयोगिता

कम नहीं होती, बल्कि और बढ़ जाती है तथा मनुष्य उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रेरित होता रहता है । सत्य, दया, स्नेह, परोपकार आदि ऐसे अनेक गुण है जो मानव के मूल्य का निर्धारण करते है । "[39]

डा॰ महावीर दाधीच का मत भी कुछ इसी प्रकार का है । उन्होंने लिखा है कि "किसी वस्तुओं का इन्द्रियों से संपर्क चेतना में कुछ अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाजन्य संवेदना उत्पन्न करता है । यही अनुभूति है । संवेदना की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता इन्द्रिय रचनातंत्र पर आधारित है । ये संवेदन अर्थात अनुभूति की अनुकूलता या प्रतिकूलता के प्रत्यय रूप बनते ही धनात्मक अथवा ऋणात्मक गुण उत्पन्न होते है । इस प्रकार चेतना वस्तु को गुणीभूत बना लेती है उसे अर्न्तभूत कर लेती है । इन गुणों का वस्तु में आरोप होता है । ये गुण ही मूल्य की प्रारंभिक अवस्था है ।"[40] उन्होंने आगे यह भी कहा है कि "चेतना अनुभूति से प्रत्यय का निर्माण ही नहीं करती प्रत्यय को अनुभूति भी बनाती है । .... ऐसे प्रत्यय (IDEA) मूल्य होते है ।"[41]

डा॰ रामदरश मिश्र भी लिखते है कि "तथ्य जगत के बीच हम जीते है, तथ्य जगत हमारे साथ रागात्मक संबंध जोड़ते रहते है । ये केवल हमारे रागबोध और सौन्दर्यबोध को ही प्रभावित नहीं करते, नए मूल्यों की सृष्टि भी करते है । नए-नए तथ्य जगत के सामने आते रहते है । वे तथ्य धीरे-धीरे हमारे जीवन के संबंधों में घुलते जाते है और मन को तथा जीवन मूल्यों को प्रभावित करते रहते है ।"[42]

योगेन्द्र सिंह की मान्यता है कि "मानव मूल्य, मानव अस्तित्व की अनिवार्यता से सहज रूप से सम्बद्ध है । मानव स्थायित्व के लिए प्रयुक्त विभिन्न संस्कारों, घटना प्रवाहों, सामाजिक दायित्वों के वैचारिक ग्राह्य के अतिरिक्त मानव मूल्यों का कोई अर्थ नहीं है ।"[43]

जगदीश गुप्त के शब्दों में, "बिना मानवीय संवेदनाओं को केन्द्र में रखे मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती । ····· मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है । उसके बिना मानवीय अस्तित्व निरर्थक है । इससे भिन्न रूप में मानव मूल्य की कल्पना मैं नहीं कर पाता हूँ ।"[44] इसीलिए उन्होंने लिखा कि "मानव मूल्यों का तात्पर्य उन मूल्यों से है जो मानव के आंतरिक सहज स्वरूप के सबसे निकट प्रतीत होते है तथा उसके संवेदनामय व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से संबद्ध है । उनकी विशेषता इसी में है कि मानवीय संवेदनाओं की उनमें मुक्त और उदार स्वीकृति है ।"[45]

सुमित्रानंदन पंत ने भी मूल्यों का आधार समाज को माना है तथा मानवीय मूल्य को सभी मूल्यों से उच्चतर ठहराते हुए लिखा है कि "जितने भी मूल्य है, उनकी पीठिका सिर्फ समाज ही हो सकता है क्योंकि व्यक्ति का विकास तो समाज की दिशा में होता है । असल में प्रश्न यह है कि चाहे वह सामाजिक मूल्य हो, चाहे वैयक्तिक मूल्य हो, वे मानव मूल्य है या नहीं ? वे उस सत्य को वाणी देते है या नहीं जो कि मनुष्य का सत्य है । चाहे वह

व्यक्ति के रूप में हो या समाज के रूप में, मानवीय सत्य एक ही है ।"[46]

साहित्य कोष में भी लिखा हुआ है कि "मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति है, इकाई है, उसके अपने कुछ मूल्य होते है परंतु व्यक्ति - मनुष्य, एक महत्तर मानव समाज का परिवार, नगर, प्रदेश, प्रांत-राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है । अत: उसके प्रत्येक विचार कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है । .... इन सब विविध मूल्यों के {संघर्ष} बाद भी एक बड़ा मूल्य बचा रहता है जो एक प्रकार से इन सबका सार है और वह है मानव मूल्य ।"[47]

वास्तव में मूल्य की परिभाषा और स्वरूप को देखते हुए इसकी व्यापकता का आभास होता है और सत्य यह भी है कि यह अपने भीतर व्यापक संदर्भ भी छिपाए हुए है । मानव सदियों से मूल्यों के सहारे अपने जीवन निर्माण व विकास में चिंतनशील रहा है । आज भी मूल्य बनते और बिगड़ते नजर आ सकते है क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव ही रहा है कि वह अपने अनुकूल हर चीज को कर लेता है या स्वयं उसी के अनुकूल मुड़ जाता है । इसीलिए मूल्य के स्वरूप तथा उसकी परिभाषा में मतवैभिन्य कुछ भी क्यों न हो मगर यह स्वीकार किया जा सकता है कि मूल्य मनुष्य के विकास के सहायक प्रेरणा स्रोत ही नहीं बल्कि, सहज और आदर्श जीवन यापन का नया और महत्वपूर्ण टेक्नीक रहा है और समाज के बदलते परिप्रेक्ष्य में इसमें स्वाभाविक तौर पर परिवर्तनशील होने की क्षमता भी है ।

मूल्यों का वर्गीकरण

मूल्य के परिभाषा में जिस प्रकार के मतवैभिन्य की स्थिति है ठीक उसी प्रकार इसके वर्गीकरण को लेकर भी विद्वानों के बीच ढेर मतभेद है । सभी ने इसे अपने-अपने ढंग से वर्गीकृत या विभाजित करने का प्रयास किया है ।

स्वरूप के आधार पर संगम लाल पाण्डेय ने आर्थिक मूल्य, शारीरिक मूल्य, मनोविनोद मूल्य, संगठन मूल्य, चरित्र मूल्य, कलात्मक मूल्य, बौद्धिक मूल्य तथा धार्मिक मूल्यके रूप में विभाजित करने का, प्रयास किया है ।

कुछ विद्वान तो इसकी दो कोटि मानते है जैसे आंतरिक मूल्य और बाह्य मूल्य ।

स्टेस भी इसके दो प्रकारों पर ध्यान दिलाना चाहते है । उनके अनुसार मूल्यों की दो ही कोटि है एक आत्मनिष्ठ मूल्य और दूसरा वस्तुनिष्ठ मूल्य । उनका मानना है कि "किसी मूल्य को हम आत्मनिष्ठ कहेंगे यदि उसकी सत्ता पूर्णतया अथवा अंशत: किन्हीं मानवीय इच्छाओं, संवेदनाओं, सम्मतियों अथवा दूसरी मनोदशाओं पर निर्भर करती है ; किन्तु वस्तुनिष्ठ मूल्य इसके विपरीत होगा । वह एक ऐसा मूल्य होगा जो मानव की किसी इच्छा, संवेदना अथवा दूसरी मनोदशा पर निर्भर नहीं करता ।"[48]

योगेन्द्र सिंह भी मूल्य के तीन प्रकार बताते है । उनके अनुसार "पहला रूढ़ या स्थिर मानव मूल्य, दूसरा विकसित या स्थायित्व प्राप्त मानव मूल्य

तथा तीसरा विकासशील या नए मूल्य ।"[49]

महावीर दाधीच की मान्यता है कि मूल्य दो प्रकार के होते है । वे लिखते है कि "चेतना का प्रयत्न सदैव यथार्थ को भाव और भाव को यथार्थ बनाने का रहता है । ..... चेतना के यथार्थ रूप से व्यवस्थागत अनेक मूल्य उत्पन्न होते है और रूमानी रूप से भावात्मक मूल्यों का प्रार्दुभाव होता है । राजनीति, वर्ण व्यवस्था, वर्ग विभाजन संबंधी मूल्य यथार्थपरक है जबकि प्रेम स्वातंत्र्य, आत्म सम्मान, द्वेष आदि व्यक्ति या भावपरक ।"[50] अत: उनके अनुसार मूल्य तो यथार्थपरक होते है या भावपरक ।

डा॰ हुकमचंद ने अपने ढंग से मूल्यों को चार श्रेणी में विभाजित किया है । उनके अनुसार, मानव-मूल्य चार प्रकार के है । यथा - भौतिक मूल्य, मानसिक या मनोवैज्ञानिक मूल्य, सामाजिक (सात्विक) मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्य ।"[51]

पेरी के अनुसार नकारात्मक, सकारात्मक, विकासवादी, वास्तविक तरह के मूल्य हो सकते है ।"[52]

स्प्रान्गर ने भी मूल्यों को सैद्धांतिक, आर्थिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक राजनैतिक तथा धार्मिक कोटियों में विभक्त किया है ।"[53] जीवन स्तरों के आधार पर क्लोरन्स एम॰ केस ने मूल्यों को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है । यथा - सावयवी मूल्य (ORGANIC VALUE) विशिष्ट मूल्य (SPECIFIC VALUE) सामाजिक मूल्य (SOCIALVALUE) तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य (SOCIO - CULTURAL VALUE)

जे॰एस॰ मेकेंजी दो तरह के मूल्य मानते है । एक साधन मूल्य (INSTRUMENTAL VALUE) तथा दूसरा स्वत: मूल्य (INTRINSIC VALUE)

हेमेन्द्र कुमार पानेरी भी मूल्य को दो ही श्रेणी में बाँटते है - एक स्थिर मूल्य तथा दूसरा गतिशील मूल्य ।"[56]

इस तरह हम देखते है कि मूल्यों को विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विभाजित कर एक सर्वमान्य विभाजन के लिए समस्या पैदा कर दिया है । सभी ने इसके विभाजन हेतु किसी न किसी आधार को सामने रखा है । जबकि हम जानते है कि मूल्य अमूर्त है और अमूर्त का आधार होना असंभव ही होता है । अत: इसका विभाजन किसी निश्चित आधार पर किया जाना शत-प्रतिशत सही नहीं लगता । फिर भी मूल्य का संबंध मानव जीवन से अनिवार्य रूप में है यह भी नकारा नहीं जा सकता । अत: स्वाभाविक ही है कि यह अनिवार्य है । मानव-जीवन स्वयं जटिलताओं से घिरा हुआ है अत: उससे संबंधित मूल्य को वर्गीकृत करने के लिए जटिलताएं अगर सामने आए तो आश्चर्य नहीं है । हम जानते है कि मूल्य मानव जीवनोत्थान के कारक है । इसीलिए इसके अध्ययन की दृष्टि से सुविधाजनक विभाजन की दिशा में प्रयास अपेक्षनीय लगता है ।

अत: अध्ययन की सुविधा हेतु ही यहां हमने मोटा-मोटी तौर पर इसको निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित करने का प्रयास किया है जिसमें स्वाभाविक तौर से सभी तरह के मूल्यों को समावेशित करने का भी प्रयास

हुआ है । अत: मूल्य निम्न प्रकार के हो सकते है । यथा - वैयक्तिक व सामाजिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, धार्मिक मूल्य और राजनैतिक मूल्य ।

वैयक्तिक व सामाजिक मूल्य

वैयक्तिक और सामाजिक मूल्य एक सिक्के के दो पहलू है । दोनों की संरचना का आधार एक ही होता है । संभवत: परिस्थिति एवं परिवेश के अनुकूल ही वैयक्तिक मूल्य सामाजिक हो जाता है और सामाजिक मूल्य वैयक्तिक मूल्य । अपने किसी खास सन्दर्भ में ही समाज में कभी वैयक्तिक मूल्यों की प्रधानता और महत्वपूर्णता सिद्ध हो सकती है जैसाकि छायावादी, प्रयोग-वादी, नयी कविता तथा नयी कहानी, अकहानी एवं सचेतन कहानी आदि साहित्यिक आंदोलनों के दौर में हुआ है । उसी तरह सामाजिक मूल्य भी अपने सन्दर्भ अनुकूल ही व्यक्ति और समाज पर प्रभावी हो जाता है जैसा कि प्रगतिवादी आंदोलन में हुआ है । और आधुनिक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के समांतर व जनवादी कथा आंदोलनों में प्रभावी नजर आता है । इसीलिए व्यक्ति और समाज के उत्थान या विकास के सहायक मूल्यों को ही वैयक्तिक या सामाजिक मूल्य कहा जा सकता है । इसीलिए तो डा॰ रमेशचन्द्र लवानिया ने कहा है कि "जो व्यक्ति विशेष की संवेदना और अभिवृतियों का इष्ट हो तथा सामाजिक, राष्ट्रीय तथा चरम मूल्यों का विरोधी न हो वह वैयक्तिक मूल्य होता है ।"[57] वैयक्तिक मूल्यों के नवीन युगबोध से ही सामाजिक मूल्य व्युत्पन्न होते है । अत: वैयक्तिक व सामाजिक मूल्य स्वरूप में अलग भले ही

दीख सकता है मगर अपनी चारित्रिक विशेषता और गुणवत्ता में समान ही होते है । अत: दोनों को एक ही तरह के मूल्यों के अंदर स्वीकार किया जा सकता है । इसीलिए वैयक्तिक और सामाजिक मूल्य मानव उत्थान व सामाजिक विकास के अनिवार्य कारक है ।

आर्थिक मूल्य

आर्थिक मूल्यों को दूसरे शब्दों में भौतिक मूल्य भी कहा जा सकता है । विशेष तौर से अर्थ से संबंधित मूल्यों को ही आर्थिक मूल्य कहा जाता है । इसमें मुख्य रूप से अर्थ और उनसे संबंधित अभिवृतियां ही महत्वपूर्ण होती है । अर्थ के अतिरिक्त इसमें पद और यश की आकांक्षा भी निहित होता है । इसीलिए तो एम॰ हिरयन्ना ऐसे सभी मूल्यों को आर्थिक मूल्य मानने के पक्ष में है ।"[58] आर्थिक मूल्यों पर समुचा सामाजिक सन्दर्भ और असन्दर्भ से वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों का अगर ह्रास संभव है तो वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों के विकास में भी ये सहायक सिद्ध हो सकते है ।

इसीलिए आर्थिक मूल्यों के सम्बन्ध में डा॰ देवराज ने लिखा है कि "भौतिक (आर्थिक) मूल्यों की अभिलाषा इसलिए की जाती है कि वह हमारी जरूरतों को पूरा करती है, और कुछ इसलिए भी कि उसके द्वारा हम दूसरों पर अधिकार प्राप्त करके उनके श्रम से लाभ उठा सकते है ।"[59] इसीलिए अगर हम आर्थिक मूल्यों के सन्दर्भ में देखें तो धन अर्जन, जो कभी देश समय और

व्यक्ति के लिए लाभकारी सिद्ध होता है वही अत्याधिक सीमा में होने पर देश, समाज और व्यक्ति के विघटन का कारण भी हो सकता है । स्वतंत्रतापूर्व के समाज में अंग्रेजो का अपने हित में धन अर्जन करना उनके लिए आदर्श आर्थिक मूल्य था मगर वही तत्कालीन भारतवासी तथा भारत देश ही नहीं बल्कि स्वयं अंग्रेजों के कई तरह के अधिकारों एवं सम्बन्धों के विघटन-कारण भी साबित हुआ । इसीलिए आर्थिक मूल्य अगर मानवतावादी मूल्यों की स्थापना का कारण हो सकती है तो वही दानवतावादी मूल्यों का परिणाम भी । अत: इसके संतुलन एवं समन्वित कारकों का समाज में होना अनिवार्य और लाभकारी है । स्वातंत्र्योत्तर भारत में जबकि मूल्य संक्रमण की स्थिति हो और मूल्यच्युतता से मूल्यहीनता का महौल बन रहा हो तो वैसी स्थिति में इन मूल्यों को पहचाना जाना अनिवार्य है ताकि इनकी खामियों से बचा जा सके और स्वस्थ एवं मानवतावादी मूल्यों के निर्माण हेतु प्रयास किया जा सके ।

राजनैतिक मूल्य

राजनैतिक मूल्य किसी भी देश के लिए अनिवार्य मूल्य होते है । इसमें खासतौर पर राज्य सरकार तथा सत्ता एवं उनसे संबंधित प्रशासनिक क्रिया-कलापों, गतिविधियों एवं कार्यक्रमों व योजना-आयोजनों से संबंधित मूल्य होते है । राजनैतिक मूल्योंके द्वारा ही देश में अराजक स्थितियों से बचा जा सकता है तथा देशोत्थान के अवरोधों को दूर किया जा सकता है ।

अगर किसी देश में राजनैतिक मूल्य विघटन के शिकार हों तो स्वाभाविक है कि वहाँ की स्थिति अराजक होगी । मगर ध्यान देने की बात है कि अगर विघटित राजनैतिक मूल्यों से नए राजनैतिक मूल्यों की स्थापना हो तो संभव है देश विकासमान हो सकता है तथा मानव सुख-चैन से अपने अधिकारों का उपयोग कर सकता है । राजनैतिक मूल्यों के द्वारा ही जनता को रक्षा का आश्वासन मिलता है और उसे विकास के समान साधन प्राप्त होते है । मगर स्वातंत्र्योत्तर भारत में शासन व सत्तालोलुपता, स्वार्थपरकता, लालची, जातिवादी तथा भाई-भतीजेवादी व वंशवादी वृतियों का काफी बोलबाला हुआ है जो मानव विरोधी है तथा जनता व देश के विकास में सहायक सिद्ध नहीं हो रहा है । यह राजनैतिक मूल्यों के ह्रास का ही परिणाम है जिससे प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था खतरे में है । पुराने राजनैतिक मूल्य जिसके अंतर्गत मानव कल्याण, समाज सेवा, देश सेवा, सत्यनिष्ठता, सचरित्रता एवं सुव्यवस्था जैसे तत्व आते है आज टूट रहे है । अब राजनीति सिर्फ स्वलाभप्रद नीति सिद्ध हो रही है । अत: समाज, राष्ट्र और व्यक्ति को सही गति व दिशा देने के लिए आज सही राजनैतिक मूल्यों को पहचानने की जरूरत है तथा उनके गलत स्वरूपों को नकारने की अनिवार्यता है । इसीलिए, राजनैतिक मूल्य मानव उत्थान के लिए अनिवार्य है ।

धार्मिक मूल्य

धर्म और मोक्ष से संबंधित वृतियों से उत्पन्न होने वाले मूल्य ही धार्मिक मूल्य माने जाते है । मगर वर्तमान सन्दर्भ में सामाजिक रीति-रिवाज प्रथा-परंपरा, रूढ़ि, अंधविश्वास एवं वैज्ञानिक सत्य सिद्धांत भी धार्मिक मूल्यों के कारण साबित हो रहे है । आज पुत्र के लिए मनौतियां मनाना भी धार्मिक मूल्य है तो मनुष्यता को पहचानना भी धार्मिक मूल्य है । और तो और ईश्वर की सत्ता को नकार कर मानव कल्याण के प्रयास व कर्म भी धार्मिक मूल्य की कोटि में ही सम्बद्ध किये जा रहे है ।

अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों पर आधारित मूल्य का अगर बोलबाला हमारे पिछड़े, असभ्य एवं अशिक्षित समाज में व्याप्त है तो सभ्य, शिक्षित एवं जागरूक समाज भी इन मूल्यों को नकारने के लिए तत्पर मिल सकता है । ऐसी स्थिति में सही मायने में धार्मिक मूल्य संक्रमण की स्थिति में है । इनसे मानव समाज को खतरा भी हो रहा है । अंधविश्वासों से संम्बद्ध धार्मिक मूल्यों के नाम पर नारी को डायन, चुड़ैल कहकर समाज से तिरष्कृत किया जाना, जानवरों की बलि दे दिया जाना तथा पोंगापंथि साधू जोगियों द्वारा भोली-भाली जनता का ठगी किया जाना आज भी हमारे समाज को काल के गाल में झोंक रहा है । साम्प्रदायिक दंगे तो इन्हीं विकृत अंधविश्वासी अभिवृतियों से जुड़े धार्मिक मूल्यों का ही परिणाम है । मगर स्वातंत्र्योत्तर भारत में कुछ नवीन धार्मिक मूल्यों के भी बीज रूप दिखाई दे रहे है जहां

मानव कल्याण, समतावाद और सामाजिक न्याय ही इसके मूल्य है । अत: इन मूल्यों के विकास की जरूरतों पर ध्यान देने की आवश्यकता है । पौराणिक धार्मिक मूल्य जो आज वैज्ञानिक सत्यान्वेषणों के सम्मुख ध्वस्त होकर मात्र मिथक बनते जा रहे है तथा नवीन धार्मिक मूल्य जो आज के मानव कल्याण का यथार्थ साबित होता जा रहा है के बीच सही सामंजस्य की आवश्यकता है । अत: धार्मिक मूल्य महत्वपूर्ण है इसकी सही पहचान होनी ही चाहिए ।

मूल्यों के स्रोत

मूल्यों का आविर्भाव और विकास समाज के विकास के साथ-साथ ही हुआ है । जितना प्राचीन समाज है मूल्य भी उतनेहीप्राचीन है । मगर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ही मूल्य शब्द के प्रयोग होने का उदाहरण प्राप्त होता है । मूल्यों के स्रोत भी मूल्यों के परिवर्तन के साथ ही बदलते रहे है । वस्तुत: मूल्यों के स्रोत ही वह आधार होते है जिस पर मूल्यों का निर्माण संभव है । जैसा कि डा॰ शम्भूनाथ सिंह ने भी कहा है कि "मूल्य उपर से आरोपित नहीं किए जाते । वे या तो परांपरागत संस्कारों के भीतर से उपलब्ध होकर मनुष्य के अस्तित्व के अंग बन जाते है या फिर नयी परिस्थितियों और पूर्व प्रचलित परंपरा के संघर्ष से मनुष्य के मन में नये रूप में जन्म लेते है । मूल्यों की कलम नहीं लगाई जाती ; वे राष्ट्रीय परंपरा की जमीन से स्वत:

उगते और बिकसित होते है ।"[60] अत: जब हम मूल्यों के विकास क्रम पर ध्यान देते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों के स्रोत भी परिस्थिति एवं परिवेशानुकूल बदलते रहते है । सर्वप्रथम मानव मूल्यों का स्रोत ईश्वर ही था । इस संबंध में सुमित्रानंदन पंत जी का कहना है कि "मानव मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य के रूपक को हमारे यहाँ महाविष्णु के रूप में अंकित किया गया है, जो प्रभविष्णु भी है ।"[61] प्राचीन से लेकर मध्यकाल तक मानव मूल्यों का स्रोत किसी न किसी रूप में ईश्वर ही रहा है । धर्मवीर भारती ने लिखा भी है कि - "समस्त मध्यकाल में इस निखिल सृष्टि और इतिहासक्रम का नियंता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता को माना जाता है । समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिक से अधिक उस सत्ता से तादात्मय स्थापित करने की चेष्टा करे । इतिहास या कालप्रवाह उसी मानवोपरि सत्ता की सृष्टि था - माया रूप में या लीला रूप में ।"[62] यही कारण है कि प्राचीन और मध्यकाल में धर्म अर्थ, मोक्ष और काम से संबंधित मूल्यों की ही प्रधानता रही । लेकिन वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप जब ईश्वर की सत्ता से अधिक मानव की सत्ता पर ध्यान दिया जाने लगा तो मूल्यों के स्रोत भी बदल गए । इसीलिए डा॰ रघुवंश ने लिखा है कि "कुछ विचारकों ने आधुनिक जीवन के आसन्न संकट तथा मूल्यों के विघटन का कारण मानवीय नैतिकता के चरम स्रोत के रूप में ईश्वर की अस्वीकृति को माना है और जीवन मूल्यों तथा मानव प्रतिष्ठा की पुन: स्थापना के लिए ईश्वर की स्वीकृति अनिवार्य मानी

DISS
TH-4624
O,152.3:8'N80-N60
152 N3

गई है, परन्तु अब ईश्वर की कल्पना मानवता की आदर्श परिणति के रूप में ही की गई है जिससे व्यक्ति अपनी मूल्य मर्यादा को ग्रहण करता है । ईश्वर के लोकोत्तर लौकिक रूप की स्वीकृति महामानव की ही स्वीकृति है ।"[63] अत: जाहिर है कि मूल्यों का स्रोत जो ईश्वर था वह महामानव हो गया । धर्मवीर भारती ने भी इस संबंध में कहा है कि "मानववाद के उदय काल में ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इन मूल्यों का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी । इस समय पहली बार यह स्वीकार किया गया था कि पुराने मूल्य अब मिथ्या पड़ने लगे है ।"[64]

इन मूल्यों के स्रोत के परिवर्तन में मानव दृष्टियों के परिवर्तन का असीम योगदान रहा है । साथ ही यह दृष्टि परिवर्तन भी डार्विन, मार्क्स फ्रायड, सार्त्र, नित्शे आदि के विचारधाराओं का ही परिणाम है । महा-मानव के मूल्य स्रोत स्वीकृत हो जाने के बाद व्यक्ति पर बहुत तरह के संकट आने शुरू हुए । वह संत्रास, घुटन, द्वंद्व विवशता आदि के चक्रव्यूह में घुट-घुट कर लघुमानव का रूप ले लिया । फलत: मूल्यों का स्रोत लघुमानव को घोषित किया गया । इस संबंध में संगम लाल पाण्डे ने कहा है कि "लघुमानव"अनेक संकल्प-विकल्प, आस्था और विवशता से गुजरता हुआ भी बड़ा सर्तक है । वह मरी हुई जिन्दगी नहीं जी रहा है, वह अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है । सब कुछ सहकर भी अपने अस्तित्व के प्रति शंकालु नहीं है । विविध अनुभूतियों को भोगते हुए मानव ने कुछ नए मूल्यों का विकास किया है ।

वे मूल्य व्यक्ति संबंध को भी प्रकाश में लाते है ।"[65]

मुक्तिबोध इस संबंध में लिखते है कि "नए मूल्यों का जन्म नयी परिस्थितियों की सार्वजनिकता से होता है । मूल्य अमूर्त होते है जो केवल भावुक और वैचारिक धरातल पर मूल्य कहला कर वस्तुत: व्यक्तित्व का गुण (VIRTUE) बनने का प्रयास करते है । नई परिस्थितियाँ जब व्यक्तित्व को इष्ट दिशा में संपूर्ण रूप से मोड़ देती है - अपने तकाजों की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यों का शक्ति जब व्यक्तित्व में पैदा कर देती है, यानी उस परिस्थिति का जन्म और विकास जब उस व्यक्तित्व में हो जाता है तब वे मूल्य साकार हो उठते है । मूल्यों को जन्म देने वाली ये परिस्थितियाँ अपनी सार्वजनिकता में ऐतिहासिक होती है, अतएव वे मूल्य भी ऐतिहासिक हो जाते है ।"[66]

जाहिर है कि वैज्ञानिक वृतियों ने ही मनुष्य को नई परिस्थितियों का जीवन क्षेत्र प्रदान किया है । जिससे नित्य नूतन मूल्य बनते-बिगड़ते रहे है ।

इसी संदर्भ में यह देखा जाना चाहिए कि विज्ञान ने जितना कुछ मानवता को दिया है उससे ज्यादा ही वह उसने मनुष्य से छीना भी है । विज्ञान ने मनुष्य को चूर-चूर कर दिया, उसे संकटग्रस्त एवं हारता हुआ मनुष्य बना दिया । "वैज्ञानिक प्रगति ने प्राचीन धर्म और दर्शनजन्य मूल्यों का नाश तो किया, किन्तु मानव जाति को निश्चित मूल्य नहीं दिये । विषय विषयी के सामंजस्य को नष्ट करके इनमें विरोध स्थापित किया । मनुष्य के बाहरी पक्ष अर्थात शरीर, व्यक्तित्व और समाज को केन्द्र स्थानीय बनाया

गया । मनुष्य को विवेकी और सामर्थ्यवान बनाकर उसे अविवेकी और आशक्त साबित किया । फलत: उसके मन में लघुता, चिंता, निरर्थकता, मृत्युभय, निरूद्देश्यता, मूल्यहीनता आदि घातक वृतियों और भ्रमों को आधार प्रस्तुत किया जिससे ये वृतियां व्यावहारिक स्तर पर ग्राह्य, साध्य बन गई । उसकी भावना और विचार दोनों स्तरों पर अव्यवस्था तथा अनिश्चियता उपजाई गई । फल है - आज का संशयात्मक मनुष्य - जो सड़कों पर भटकता है, उपन्यासों और कहानियों में झूरता है, दफ्तरों में सिर मारता है, आराम कुर्सी पर पड़ा अखबार बांचता है अथवा किसी कोने में खड़ा विचार का ढ़ोंग रचता है ।"[67]

अत: आज मूल्यों का स्रोत ढूंढना सही में मानव के लिए एक समस्या साबित हो रहा है । अज्ञेय की अगर बात मानी जाए जहां वे कहते है कि "आज मूल्यों का स्रोत कोई आधिदैविक नहीं है, न कोई काल्पनिक या प्रतीक पुरूष है । इस समस्या को हल करने का प्रयास भी किया गया है और सब बातों को छोड़कर सहज या साधरण मानव की प्रतिष्ठा को महत्व दिया जाने लगा है ।"[68] तो सही में सहज मानव ही आज मूल्यों का स्रोत उचित ठहरता है । डा॰ जगदीश गुप्त का भी यही मानना है । उन्होंने भी लिखा है कि "मूल्य बोध का आधार महा-मानव को माना जाय अथवा लघुमानव को या किसी और को, यह भी एक समस्या है । मेरी धारणा है कि मानव मूल्यों का आधार इनकी अपेक्षा सहजमानव को मानना ही विशिष्ट स्थितियों में उक्त विभिन्न रूपों में

लक्षित होता है । जीवन की चेतना सहज मानव में अधिक प्रकृत रूप में क्रिया-शील होती है । विकृतियों का निराकरण करके बौद्धिक स्तर पर सहजमानव को ग्रहण करना कठिन नहीं है ।"[69]

मूल्य संक्रमण

आज के वैज्ञानिक युग में सहज मानव को तो मूल्यों का स्रोत स्वीकार किया जा सकता है । लेकिन परिस्थितियों की जटिलताओं के परिवर्तनशील दौर में यह कब तक टिका रह सकता है यह विचारणीय है क्योंकि आज मूल्य संक्रमण हो रहा है । कुछ पुराने मूल्यों में नए मूल्य जुड़ रहे है तो कुछ नए मूल्यों से पुराने मूल्य टूट रहे है । यह मूल्य संक्रमण की स्थिति खासकर स्वतंत्रता के दो दशक बाद से काफी सक्रिय दीखता है । कहना तो यही चाहिए कि स्वातंत्र्योत्तर भारतमें साठोत्तर के बाद से ही मूल्य संक्रमण की स्थिति गंभीर रूप से हमारे सामने उपस्थित हुई है । मूल्य संक्रमण की स्थिति में मानवता का भटकाव होना आश्चर्यजनक नहीं है । इसमें परंपरा टूटती है और नवीन आस्थाओं का प्रार्दुभाव जारी रहता है । खासकर भारतीय इतिहास में स्वातंत्र्योत्तर युग का विशिष्ट महत्व है । यहीं से सदियों से चली आती हुई वैचारिक जगत में परिवर्तन आया है और एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ है । स्वातंत्र्योत्तर मूल्य संक्रमण के दौर में समाज के स्थान पर व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिली है तथा वैयक्तित्व स्वातंत्र्य को ही मानवता का उत्स माना जा रहा है । नारी का मूल्यांकन केवल

नारी के रूप में न होकर बल्कि उसकी स्वतंत्र सत्ता मानकर उसकी प्रतिष्ठा की बातें होनी शुरू है । नैतिक मान्यताएं बदल रही है । सांस्कृतिक परिवेश संक्रमित हो रहा है । धर्मवीर भारती के शब्दों में तो आज "संपूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी, वे झूठे पड़ गये है, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है ।"[70] सही मायने में आज दिकभ्रमित होने की स्थिति है । जीवन के विविध क्षेत्रों में बदलाव जारी है । अंधविश्वासों का अंत होना, घर परिवार, माता-पिता आदि का महत्व घटना, धर्म के सत्ता की समाप्ति, राजनीति का अराजक होना आदि मूल्यों के विघटन एवं निर्माण का ही परिणाम है । हर चीज में आज नए संदर्भों को ढूंढा जाने लगा है । विज्ञान, धर्म, दर्शन, नैतिकता, मूल्य, समाज-गठन, जातीय-श्रेष्ठता, साहित्यिक परिवेश में भी अराजकता का महौल है । इसीलिए डा॰ रामगोपाल सिंह चौहान लिखते है कि "आज भारत के व्यक्ति और समाज का जीवन एक भयंकर संक्रांति से गुजर रहा है । यह समय देश के आर्थिक राव निर्माण के समान ही नये जीवन निर्माण का भी है । जिसके परिणाम स्वरूप जीवन के प्रति दृष्टिकोण, सामाजिक तथा वैयक्तिक मर्यादा, नैतिकता, आदर्श, जीवन के प्रतिमान सभी में आधारभूत परिवर्तन उपस्थित हो रहे है ।"[71] जाहिर है कि यह मूल्य संक्रमण का ही परिणाम है । अत: इस मूल्य संक्रमण के दौर में उनका यह कहना बहुत ही उचित लगता है कि [आज] "हमारा जीवन पुरानी व्यवस्था से नई व्यवस्था में प्रवेश कर रहा है, और आज हम एक परिवर्तन प्रक्रिया के अंतरिम काल से गुजर रहे है । इस प्रक्रिया में हमें बहुत से काल सापेक्ष जीवन मूल्यों को छोड़ना होगा,

उन जीवन मूल्यों को छोड़ना होगा जो पुरानी समाज व्यवस्था की उपज है, और इस परिवर्तन के साथ ही अपनी महत्ता को खो बैठे है । लेकिन वे जीवन मूल्य जो काल-निरपेक्ष मानव मूल्य बन गये है, निश्चित रूप से वे नए जीवन मूल्यों का आधार बनेंगे । दया, ममता, प्रेम, करूणा, सहानुभूति ये सब मानव के काल निरपेक्ष मूल्य है जो नि:सन्देह समाजवादी समाज व्यवस्था के नये जीवन मूल्य भी होंगे ।"[72] अत: मुल्य संक्रमण में सही मूल्यों की तलाश अनिवार्य ही है ।

मूल्य और साहित्य

साहित्य के संबंध में रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता कि "वह जनता की चित्तवृतियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है", हिन्दी साहित्य में बहुत ही प्रसिद्ध है । मनुष्य की चित्तवृतियों से मूल्यों का भी व्यापक संबंध है । साहित्य अगर जीवन की व्याख्या है तो जीवन के उत्थान हेतु कारक है अत: दोनों में परस्पर संबंध होना स्वाभाविक ही है । साहित्य में जीवन मूल्यों को ही चित्रित किया जाता है । अत: कहा जा सकता है कि साहित्य में भी जीवन मूल्य संचित होता है । रामधारी सिंह दिनकर ने कहा भी है कि "परिवेश वह वातावरण है जिसमें साहित्य लिखा जाता है और मूल्य वे नैतिक मान्यताएं है, साहित्य जिसका समर्थन और विरोध करता है । .... विशेष प्रकार के परिवेश और मूल्यों के अधीन भी रचा गया साहित्य सभी परिवेशों

सभी मूल्यों का स्पर्श करता है ।"[73]

इसीलिए साहित्य में मानव मूल्यों की संस्थिति अनिवार्यत है । "साहित्य में हम कल्पना द्वारा नवीन मनोदशाओं की सृष्टि करते है । यह सृष्टि अपने से बाहर किसी चीज को प्रतिफलित नहीं करती, जैसा कि विचार सृष्टि करती है । एक तरह से हम कह सकते है कि वैज्ञानिक सृष्टि की भाँति कला सृष्टि का उद्देश्य भी किसी विषय का बोध प्राप्त करना है । किन्तु कला जिस वस्तु या यथार्थ का बोध खोजती है, वह यथार्थ स्वयं हमारा जीवन है । हमारा वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन । इसीलिए, कला सृष्टि का अपने युग तथा समाज से घना संबंध होता है ।" अत: धर्मवीर भारती का यह कहना उचित ही है कि "साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्युत्तरों (RESPONSES) में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रत्युत्तर है ।"[74]

इसीलिए साहित्य का प्रतिपाद्य विषय भी मूल्य ही है क्योंकि मूल्यों का अभिव्यक्ति करना साहित्य का कार्य और उद्देश्य भी है । कहना तो यह भी उचित लगता है कि साहित्य की जीवंतता मानव मूल्यों के समावेश के कारण ही संभव है । वस्तुत: कुछ लोग साहित्यिक मूल्य और मानव मूल्य को अलग-अलग मानने के पक्ष में है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि दोनों मूल्य एक ही है । साहित्य में विभिन्न तरह के मूल्यों का समन्वित रूप में विभिन्न काल, परिवेश में भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त हुआ है । साहित्य द्वारा मूल्याभिव्यक्तिकरण

मात्र आधुनिक काल की प्रक्रिया नहीं है वरन मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृतियों में इसके असंख्य और बहुतायत में उदाहरण मिल जाएंगे । यही नहीं सभी प्रकार के साहित्य में, चाहे वह किसी भी काल का साहित्य, किसी भी भाषा मे क्यों न हो, उसमें मूल्यों की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है । हाँ, हो सकता है वे मूल्य उसके अनुकूल रहे हो । मध्यकाल के साहित्य के संबंध में डा॰ धर्मवीर भारती ने लिखा है कि "वैष्णव मानववादी चिंतन और साहित्य परंपरा में जहां एक ओर कलाकार में अपनी वैयक्तिकता के प्रति अगम्य आत्माभिमान था वहीं एक विराट मूल्य-मर्यादा, एक महान दायित्व के प्रति आत्मसमर्पण भी था । .... मध्यकाल वैष्णव चिंतन के लिए वास्तव में प्रभु मानवीय मूल्य की चरम पूर्णता का ही पर्याय था, उस मूल्य मर्यादा को ग्रहण करने का पथ उच्छृंखलता नहीं वरन् स्वतंत्रता और दायित्व से समन्वित स्वधर्म का पथ है, भक्ति का पथ है, जो तुलसी के शब्दों में विरति और विवेक से संभुत है ।"[75]

इसी प्रकार, हम देखते है कि वैदिक साहित्य में प्रेम, दया, करूणा, श्रद्धा, सेवा, कल्याण जैसे मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है ।

वास्तव में प्राचीन मूल्यों को अस्वीकारने एवं नवीन मूल्यों को ग्रहण करने की प्रवृति साहित्य में हमेशा रहा है, लेकिन मध्यकाल में यह अधिक उभर कर सामने आता है । कबीर, दादू, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, रहीम, रसखान आदि संत भक्त कवियों के साहित्य में इसके प्रमाण सहज रूप से प्राप्त

हो सकते है । कबीर जहां अपने साहित्य में युग-युगीन सड़े-गले मूल्यों को दृढ़तापूर्वक ललकारते मिल सकता है तो वहीं तुलसी अपने परंपरागत मूल्यों के आदर्श रूप की ओर सबको इंगित करते आसानी से मिल जायेंगे । आधुनिक साहित्य में गद्य विधा के विकास के साथ खासकर भारतेन्दु, प्रेमचंद, प्रसाद आदि के साहित्य प्रयाण में साहित्य में रूढ़ जीवन मूल्यों के प्रति बढ़ते आक्रोश के तेवर को हम आसानी से देख सकते है । और यह क्रम जारी रहा । खासकर स्वातंत्र्योत्तर भारत में साहित्य में मूल्य संक्रमण की स्थिति का पर्दाफाश धीरे-धीरे होता गया और "आधुनिक युग जो कि अनेक प्रकार के संकटों से ग्रस्त है, साहित्य को भी अपनी परिवर्तनशील स्थिति में सहज रूप से मोड़ता नजर आ रहा है । ऐसी स्थिति में साहित्य इसी प्रकार के संकटों से ग्रस्त हो रहा है । मानवीय मूल्यो का तिरस्कार करने पर साहित्य को पहचानने की रीति गलत हो जाती है तथा मिथ्या मान्यताओं का उदय होता है । परिणाम यह होता है कि साहित्य के सही स्वरूप का परिचय नहीं हो पाता और साहित्यं भ्रांत लीक की ओर बढ़ने लगता है । साहित्य, जो मानवीय संस्कृति, सभ्यता एवं व्यक्ति की अभिव्यक्ति है तथा जो जीवन को आंदोलित करने की या प्रेरित करने की क्षमता से सम्पन्न है, युग के सामने सही आदर्श नहीं रख पाता । उसकी उपयोगिता का ऐसी स्थिति में अवमूल्यन हो जाता है ।"[76]

इसीलिए आज मूल्य संक्रमण के दौर में "मानवीय मूल्यों के संदर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना

को प्रश्रय देने लगते है कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड जाता है । अत: मूल्य और साहित्य सह संबंधों को पहचानना आज की मांग है ।

कहानी और मूल्य

यों तो साहित्य के सभी विधाओं में मुख्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहती ही है । कमोवेश सभी विधाओं में अलग-अलग ढंग से मूल्यों का अभिव्यक्तिकरण संभव है । कविता में सीमित शब्दों एवं छंदों के परिप्रेक्ष्य में ही मूल्यों की अभिव्यक्ति संभव है । नाटक में मूल्यों की अभिव्यक्ति पात्रों के द्वारा ही पाठकों और दर्शकों तक होता है न कि रचियता सीधे-सीधे पाठकों/दर्शकों तक इसकी अभिव्यक्ति में उपस्थित होता है । निबंध में भी शैली ही प्रत्यक्ष होती है । इसमें भी मूल्यों का संपूर्ण पक्ष अभिव्यक्ति पाने में सीमित ही रह जाता है । मगर उपन्यास के संबंध में ऐसा नहीं है । बल्कि, इसके संबंध में सर्वविदित है कि इसमें विस्तृत फलक में मानव जीवन के यथार्थ को स्पष्ट किया जा सकता है । अत: उपन्यास में मूल्याभिव्यक्ति की बहुत ज्यादा गुंजाइश होती है ।

मगर मूल्य संक्रमण के दौर में साहित्य की लगभग विधाएं क्षत-विक्षत हो रही है । क्योंकि, "आधुनिक हिन्दी साहित्य भी समाज की अन्य गतिविधियों की तरह बुरी तरह उलझा दिखाई देता है । पद्य, गद्य से उलझा

हुआ है, तो कहानी नाटक से, उपन्यास रिपोर्ताज से, तो निबंध संस्मरणों से, सभी बेझिझक दल बदलू हो गए है ।"[77] ऐसे दौर में मानव व्यस्त और आत्मनिष्ठ होता जा रहा है । इसीलिए मनुष्य क्षण की महत्ता को समझ हर पल का उपभोग करना चाहता है । पहले की तरह न तो अब संयुक्त परिवार रह पा रहा है और ना ही नैतिक मापदण्ड ही । परंपराएं टूट रही है । मानव संस्कार और व्यवहार में बदलाव होते जा रहा है । इसीलिए, इस व्यापक विश्व मगर,कई कई संदर्भों में सिमटा हुआ होने के कारण उसके व्यस्तमय भागम भाग वाले माहौल में मनुष्य अपने जीवन को कम समय में अधिक आनंद की प्राप्ति हेतु ज्यादा से ज्यादा उपभोग करने का आदि हो गया है । आज जीवन के व्यापक आयाम खंडों में विभाजित हो गए है और लोग व्यक्ति में समष्टि को ढूंढने की वकालत करने को आतुर हो गए है । इसीलिए, कहानी साहित्य की केन्द्रीय विधा हो गयी है । क्योंकि "मानव की व्यस्तता के परिणाम स्वरूप अपने लघु आकार के कारण, कहानी सर्वाधिक प्रचलित होती जा रही है । पाठक कहानी में रूचि लेता है ; क्योंकि उसके पढ़ने में विशेष समय नहीं लगता और उसका व्यस्त जीवन अधिक व्यस्त नहीं हो पाता ।

जीवन के खंडित होने पर मूल्यों का भी उसी के अनुकूल होना स्वाभाविक है और खंडित जीवन को कहानी में आसानी से अभिव्यक्ति मिल सकती है । इसीलिए आज के दौर में मूल्याभिव्यक्ति की सशक्त विधा के रूप में कहानी सामने है । राजेन्द्र यादव जी तो कहानी को आदि विधा भी मानते

है और उनका कहना है कि "मै कहानी को आदि विधा मानता हूं । वह गद्य में लिखी गयी हो या पद्य में, या इससे पहले संकेतों में । पद्य या गीतों के माध्यम से स्वयं उनका रस ग्रहण करते हुए भी, इन सबके पीछे नेपथ्य में चलने वाली कहानी ही प्रमुख रही है ।"[78]

इसमें कोई दो मत नहीं कि कहानी मूल्यों को सीमित रूप में ही अभिव्यक्ति करती है । मगर आज मूल्य संक्रमण की स्थिति में जहां मूल्य हीनता की स्थिति उत्पन्न होती है तो उपन्यास निश्चित तौर पर पंगु होता जा रहा है और मूल्यों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम कहानी बनती जा रही है । वास्तव में, "हिन्दी कहानी ने सर्वप्रथम नवीन मूल्यों का शोध करने का प्रयत्न किया है । इसके इन प्रयत्नों से संपूर्ण साहित्य और मानव को भी एक नवीन प्रेरणा प्रदान की है । जीवन के प्रति जिजीविषा की भावना, उसकी छटपटाहट का यथार्थ चित्रण कर वह सीधे, सरल मार्ग की ओर प्रेरित करने में सफल हो रही है । आज की कहानी ने न केवल प्राचीन शैली शिल्प, भाषा कथानक तथा अन्य तत्वों के बंधनों को ही तोड़ा है, अपितु उसने तो प्राचीन रूढ़ियों, अर्थमृत संस्कारों और मूल्यों के प्रति भी विद्रोह किया है । यह विद्रोह नवीन मन: स्थितियों को जन्म दे रहा है ; जिससे यथार्थ बोध के नवीन परिवेश में नवीन मूल्यों की शैशवास्था का युग आ रहा है ।"[79]

इसीलिए, मूल्य संक्रमण के दौर में कहानी की सार्थकता और महत्वपूर्णता और अधिक बढ़ गयी है । कहानी द्वारा मूल्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ही स्वातंत्र्योतर हिन्दी कहानियों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण सिद्ध होता है ।

संदर्भ ग्रंथ सह पादटिप्पणियाँ

1. वामन शिवराय आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ0 812।

2. "The philosopher who is engaged in that branch of philosophy now known as 'Theory of Value' is distinguished by the fact that the word which is more careful about is the word "value". Contemporary Philosophy Problems, R.S. Perry. Page-488.

3. "The word 'value' is used in a number of different meanings but this idea of a permanent standard of cause is price, as distinguished from a temporary or accidental phenomenon, lies at the basis of them all. Some times 'Value' is used in the sense of utility." 'Dictionary of Philosophy and Psychology, Vol. II. Edited by James Meark Baldwin, Page-749.

4. Dictionary of Sociology and Related Science. Henry prati. Fair child and others, Page-331.

5. "Values are rooted in intincts and desires". The search structure of values, R.K. Mukergee. Page-77.

6. The Social Structure of values. R.K. Mukergee, Page-90.

7. मूल्य परिवर्तन : मानविकी के संदर्भ में, कुमार विमल "आलोचना (अक्टूबर दिसम्बर 1967)" पृ0 64

8. The frontiers of Social Sciences. Edited by B. Singh. Coated line of R.K. Mukergee, Page-66.

9. विचार और विश्लेषण, डा॰ नगेन्द्र पृ0 ।

10. The fact is however, that there is no such established and universal meaning. Different people mean different

things in different context. The problem is not to discover a present meaning.... there are only too many meanings. Contemporary Philosophy Problems, R.S. Perry, Page-489.

11. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, डा॰ संगपलाल पाण्डे, पृ0 304-305

12. मानव मूल्य और साहित्य, डा॰ धर्मवीर भारती, पृ0 134-35

13. "Values depends on our feelings and wished they related to our faith in ultimate ends, which escape the jurisdiction of Science." The Sociology of Max Weber, Julien Freund, Page-52.

14. हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य, डा॰ रमेश चन्द्र लवानिया, पृ0 7

15. नयी कविता स्वरूप और समस्याएं, डा॰ जगदीश गुप्त, पृ0 35

16. "Values is our those basic terms which cannot be fully defined". Ethical values in the age of Science, Paul Roubiczek. Page-219.

17. नयी कविता: स्वरूप और समस्याएं, डा॰ जगदीश गुप्त, पृ0 13

18. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, डा॰ हुकुम चंद, पृ0 2

19. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, डा॰ हुकुम चंद, पृ0- 293

20. The Sources of value, Stephen C. pepper, page-7.

21. नीतिशास्त्र का सर्वेषप, डा॰ संगप लाल पाण्डे, पृ0 303-305

22. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षप, डा॰ संगम लाल पाण्डे, पृ0 304

23. माध्यम (जुलाई-1967) डा॰ रघुवंश, पृ0 7

24. मानव मूल्य और साहित्य, डा॰ धर्मवीर भारती, पृ0 9

25. मानव मूल्य और साहित्य, डा॰ धर्मवीर भारती, पृ0 21

26. "Values are defined in terms of survival and enhancement of the life." Encyclopaedia Britanica; Vol. 22, page-962.

27. Sociology - A synposis of Principles. John F. Cuber, page-47.

28. Sociology, Joseph H. Fichter, page 293-94.

29. Value therefore, are the Criteria that give meaning and significance to the total culture and Society."
Sociology, Joseph H. Fichter. page 294.

30. "Value is a subject in which a Comprehensive hypothesis of the character of the total field is essential."
The Sources of Values, Stephen C. Pepper. page-1.

31. "Since each value has a positive and a negative form we are bound to arrange everything, objects and events, actions and experiences, and even the value themselves

in scales according to the degree to which every item contributes to, or prevents, the realization of a particular value."

Ethical values in the age of Science, Pauh Roubiczek. Page-225,226.

32. "Values, than, may be defined primarily as those individuals personal qualities which are considered to be desirable by people in a given culture."

Understanding Human Society, Water gold Schmidt, page-73.

33. "A most important aspect of the concept of value is closely related to our postulate of a need for positive effect."

Understanding Human Society, Water gold Scmidt, page-79.

34. "Values are assumptions, largely unconscious of what is right and important. Some set of values forms the core of every culture. The ethos or fundamentals characteristics of any culture, are a reflection of its basic values."

Sociology and Social Life, K. Young and Mack. Page-70.

35. "Values are Socially approved desired and goals that are internalized through the process of conditioning, learning, socialization and that because subjective preferences, standard and aspirations.

The frontier of social sciences, edited by B. Singh Coatedlines of R.K. Mukergee, page-23.

36. साहित्यमुखी, दिनकर, पृ0 6

37. साहित्यमुखी, दिनकर, पृ0 56

38. माध्यम (मार्च 1968) राजशेखर, पृ0 5

39. हिन्दी की प्रयोगशील कविता और उसके प्रेरणास्रोत, श्रीराम नागर, पृ0267

40. आधुनिकता और भारतीय परंपरा, डा॰ महावीर दाधीच, पृ0 10

41. आधुनिकता और भारतीय परंपरा, डा॰ महावीर दाधीच, पृ0 11

42. माध्यम (जुलाई- 1964), रामदरश मिश्र, पृ0 28

43. माध्यम (जनवरी-1968) योगेन्द्र सिंह , पृ0 45

44. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं, डा॰ जगदीश गुप्त, पृ0 15

45. नयी कविता: स्वरूप और समस्याएं, डा॰ जगदीश गुप्त, पृ0 15

46. धर्मयुग (7 सितम्बर 1968) सुमित्रानंदन पंत, पृ0 12

47. साहित्यकोष, भाग-2, पृ0 658

48. Religions and the modern mind, W.T. Stes, page-26.

49. माध्यम (जनवरी 1968) योगेन्द्र सिंह,, पृ0 46

50. आधुनिकता और भारतीय परंपरा, डा॰ महाबीर दाधीच, पृ0 12

51. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य,डा० हुकुम चंद, पृ0 70

52. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण,डा० हेमेन्द्र कुमार पानेरी,पृ0।9

53. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, डा०हेमेन्द्र कुमार पानेरी,पृ0।9-20

54. वही वही

55. वही वही

56. वही वही

57. हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, डा० रमेश चन्द्र लवानिया, पृ0

58. वही वही

59. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डा० देवराज, पृ0 163

60. प्रयोगवाद और नयी कविता, डा० शम्भू नाथ सिंह, पृ0 56

61. आलोचना (जनवरी 54) सुमित्रानंदन पंत, पृ0 73

62. मानव मूल्य और साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृ0 9

63. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, डा० रघुवंश, पृ0 30

64. मानव मूल्य और साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृ0 2।

65. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, डा० संगम लाल पाण्डे, पृ0 167-174

66. नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध, मुक्तिबोध, पृ0 45-46

67. आधुनिकता और भारतीय परंपरा, डा० महावीर दाधीच, पृ0 22

68. आज का भारतीय साहित्य, अज्ञेय (संपादक) पृ0 403

69. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं, डा० जगदीश गुप्त, पृ0 18

70. मानव मूल्य और साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृ0 65

71• स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, डा• रामगोपाल सिंह चौहान पृ0 25-26

72• वही वही पृ0 27-28

73• साहित्यमुखी, दिनकर, पृ0 56-57

74• मानव मूल्य और साहित्य, डा• धर्मवीर भारती, पृ0 ।

75• मानव मूल्य और साहित्य - डा0 धर्मवीर भारती, पृ0 130

76• स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियाँ
डा• भगीरथ बड़ोले, पृष्ठ 45

77• वीणा (सितम्बर 1970) इन्दौर, शिवमंगल सिंह "सुमन" पृ0 9

78• साप्ताहिक हिन्दुस्तान (12 जून 1966) राजेन्द्र यादव, पृ0 36

79• हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, डा• रमेश चन्द्र लवानिया, पृ0 33-34

xxx

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कहानी के विकास का परिदृश्य :

पूर्व प्रेमचंद युग, प्रेमचंद गुप्त, प्रेम चंदोत्तर युग, स्वातंत्र्योत्तर युग ।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कहानी के विकास का परिदृश्य

आज हिन्दी साहित्य में कहानी एक अत्यन्त लोकप्रिय और महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा के रूप में उभर कर आ रही है । आज यह अपने देशकाल के वास्तविक स्वरूप को समग्रता से प्रतिबिंबित करने वाली प्रतिनिधि विधा है । कहा जाता है कि हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास ही एक क्रांतिकारी घटना है । गद्य में कहानी विधा के विकास से तो विशेषकर हिन्दी साहित्य को एक नया आयाम ही प्राप्त हुआ है । अत: गद्य के विकास क्रम में ही हम कहानी का विकास पाते है । यही कारण है कि "कहानी के अध्येताओं ने उसके स्रोतों की खोज की प्रक्रिया को कभी पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक कथा और ईशप की महान कहानियों से जोड़ने का प्रयास किया है और कभी ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों, उपनिषदों की रूपक कथाओं, रामायण और महाभारत के उपाख्यानों से जोड़ते हुए इसे बैताल-पच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी और अलिफ लैला तक खींच लिया है । मध्य देशों की अरबी-फारसी में लिखी अलिफ-लैला, हजार दास्तान, अनवार सहेली, हातिम ताई, गुलिस्तां-बोस्तां जैसे ग्रंथों या शीरी-फरहाद, लैला मजनूँ, जैसी लोक कथाओं और पंचतंत्र तथा बोस्तां वर्ग की कहानियों के प्रभावशाली रचनात्मक स्वभाव और व्यक्तित्व को इस सीमा तक रेखांकित किया गया है कि संपूर्ण विश्व के कथाबोध का जन्म इन्हीं से हुआ भासित

होता है ।"[1] तभी तो हिन्दी कहानी के विकास के लए अध्येताओं एवं विद्वानों में कई तरह के दृष्टिकोण घर कर गए है । सभी अपनी सुविधा और जानकारी के अनुसार कहानी विधा के विकास के लिए अलग-अलग कालक्रमों, घटनाओं तथा विवरणों का उल्लेख करते है । मगर इसके स्रोतों की प्राचीन सम्बद्धता को देखते हुए ही अध्येतावर्ग इन्हें आदि विधा आसानी से ठहराते है और इसके पूर्व स्वरूप के लिए संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्य भाषाओं के साहित्य में डूबकी लगाने से नहीं चूकते । इसी तरह हिन्दी की पहली कहानी के संबंध में भी मतभेद है । डा॰ रामरतन भटनागर इंशा अल्ला खां की रानी केतकी की कहानी को पहली मौलिक कहानी रचना मानते है तो डा॰ श्री कृष्ण लाल ने जून 1980 ई॰ में किशोरी लाल गोस्वामी द्वारा लिखी इन्दुमती को हिन्दी का प्रथम मौलिक कहानी कहा है । डा॰ लक्ष्मी नारायण लाल इन्दुमति को तो प्रथम कहानी मानते है मगर वे इसे मौलिक कहानी न मानकर शेक्सपीयर के नाटक टेम्पेस्ट की इतिवृति की छाया मानते है ।

रायकृष्ण दास ने भी पाश्चात्य कहानी कला की दृष्टि से बंगमहिला की दुलाईवाली को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी माना है । मगर इसे भी किसी बंगला कहानी का अनुवाद ही कहा जाता है । जबकि यह बंगला कहानी का अनुवाद नहीं है । जो कुछ भी हो, कहानी का पाठक आज जिस

तरह की हिन्दी कहानियों से संवाद पाता है उसका विकास उन्नीसवीं शताब्दी से ही माना जाना चाहिए । इसके पूर्व की प्राप्य लगभग कहानियाँ मात्र कल्याणकारी स्वरूप में कौतूहल और भावुकता को जगाकर मनोरंजन प्रदान करने के उद्देश्य से लिखी जाती थी । जिसमें विलक्षण कल्पना, घटना-जाल, चमत्कार, प्रश्नोत्तर, जिज्ञासा, संघर्ष और जय-विजय का चित्रण, धार्मिक आध्यात्मिक आस्थाओं और आग्रहों, धूर्तताओं, छल-कपट और चेतावनियों तथा सामाजिक और वैयक्तिक स्वतंत्रताओं के सूक्ष्म बिन्दुओं के वर्णन का भरमार मिलता है । वास्तव में, हमें सोचना चाहिए कि "औद्योगिक क्रांति और वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप आज के नए इंसान को जो भी नया जीवन-मूल्य प्राप्त हुआ है, उसी की अभिव्यक्ति आधुनिक कहानियों में हो रही है । इस नए मूल्य को उपलब्ध हुए सौ सवा सौ साल से अधिक नहीं हुए हैं । अत: आधुनिक कहानी साहित्य के विकास से परिचित होने के लिए बहुत पीछे मुड़कर प्राचीन साहित्य में पैठने की जरूरत नहीं । अधिक से अधिक हम उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक जा सकते हैं । सच तो यह है कि सन 1850 ई॰ के पहले आधुनिक कहानी का अस्तित्व न तो इंग्लैंड में मिलता है, न रूस में, न फ्रांस में और न अमेरिका में ।"[2]

वैसे भी यूरोपीय साहित्य में कहानी का आविर्भाव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से माना जा सकता है । पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रभाव, पत्र-पत्रिकाओं

का प्रसार-प्रचार मुद्रण यंत्र का आविष्कार एवं हिन्दी भाषा के प्रचार से हिन्दी कहानी को विकास में काफी सहायता मिली है ।

हिन्दी कहानी अपने विकास के पूर्वकाल से ही युगानरूप परिस्थितियों एवं विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव से अपने स्वरूप एवं शिल्प को परिवर्तित करती रही है । आज भी इसमें परिवर्तन जारी है । अपने प्रारंभ काल से लेकर आज तक इसने तरह-तरह के कहानी आंदोलन को तरजीह दी है और आज भी यह चर्चा के केन्द्र में है ।

सम्पूर्ण कहानी साहित्य के विकास की रूपरेखा को संक्षिप्त में यहां अध्ययन की सुविधा हेतु निम्नलिखित कालों में विभक्त किया गया है :-

(क) पूर्व प्रेमचंद युग

(ख) प्रेमचंद युग

(ग) प्रेमचंदोत्तर युग

(घ) स्वातंत्र्योत्तर युग

(क) पूर्व प्रेमचंद युग

इसमें भारतेंदु से पहले की हिन्दी कहानी, भारतेन्दु कालीन हिन्दी कहानी और द्विवेदी कालीन हिन्दी कहानी को रखा जा सकता है । इस युग की प्राय: कहानियां मुख्य रूप से चमत्कार प्रधान कहानियाँ थी, जिसमें

दैवी घटनाओं, नाटकीय सहयोगों, पौराणिक प्रसंगों और कौतुहलजनक घटनाओं की बहुतायत थी । यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इन प्रारंभिक हिन्दी कहानियों का मूलाधार ही प्राचीन संस्कृत साहित्य, अपभ्रंशकालीन वीरगाथाएं, मध्य युगीन प्रेमाख्यान तथा रीति युगीन वीर कथाएं आदि है ।

छिटपुट में यथार्थ का भी प्रस्फूटन किसी-किसी कहानियों के किन्ही प्रसंगों में उद्भासित दिखाई पड़ता है । हालांकि, प्रारंभिक हिन्दी कहानियों में आदर्श और कल्पना का ही जोर है । मगर, भारतेन्दु युग से इसके स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन शुरू होता है । खासकर प्रेमचंद युगकीप्रारंभिककहानियों में आदर्श और यथार्थ का समन्वित रूप और बाद में सामाजिक यथार्थ का स्वरूप चित्रण दीखता है । वस्तुत: प्रेमचंद युग ही वह दौर है जहाँ से यह यथार्थवाद की ओर प्रबल रूप में उन्मुख होती नजर आती है । पूर्व प्रेमचंद युगीन कहानियों में सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक तथा ऐय्यारी की कहानियों की अधिकता है ।

प्रेमचंद पूर्व युग की अधिकतर कहानियों में वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक मूल्यों की अपेक्षा धार्मिक मूल्यों की ही अभिव्यक्ति हुई है । साहचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, विनय, आत्मज्ञा तथा अनुशासन संबंधी मूल्यों पर ही अधिकतर कहानियां केन्द्रित रही है । इसीलिए तो डा॰परमानंद

श्रीवास्तव ने लिखा है कि "सामाजिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का अभाव प्रेमचंद युग से पहले की अधिकांश कहानियों में है, यह केवल संयोग की बात नहीं है ।"[3]

पूर्व प्रेमचंद युग की महत्वपूर्ण कहानियाँ निम्नलिखित है - रानी केतकी की कहानी (इंशा अल्लाह खां), सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, प्रेम सागर, माधव विलास तथा राजनीति (लल्लू लाल), सुखसागर (सदासुखलाल नियाज) नासिकेतो पाख्यान (सदल मिश्र), राजा भोज का सपना (राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द) कहानी टका-कमानी, देवरानी और जेठानी (पं॰ गौरीदत्त), दामोदर राव की आत्म कहानी (कार्तिक प्र॰ खत्री), यमपुर यात्रा (राधाचरण गोस्वामी), एक कहानी : कुछ आपबीती, कुछ जगबीती (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), इन्दुमती (किशोरीलाल गोस्वामी), शिक्षा का युद्ध उर्फ रावत मानसिंह चरित्र, गल्प पोचक, चतुर चंचला, डाकू की पहुनाई, तीन तहकीकात, त्रिवेणी तट तथा सौभद्रा आदि (गोपाल राम गहमरी), सच्चाई का शिखर (गंगा प्र॰ अग्निहोत्री), उसने कहा था, सुखमय जीवन, बुद्धु का काँटा (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) , जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादापि गरियसी (उदय नारायण वाजपेयी) पेट की आत्म कहानी (महेन्द्र लाल गर्ग) ग्यारह वर्ष का समय, पार्वती नंदन, प्रेम का फुव्वारा (रामचंद्र शुक्ल) चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान (सूर्य नारायण दीक्षित), भूतही कोठारी (मधुमंगल)

पक्का गठबंधन (प्रेमनाथ भट्टाचार्य), एक अशर्फी की आत्म कहानी (वेंकटेश्वर नारायण तिवारी), प्लेग की चुड़ैल (भगवानदास), सुअर का शिकार (निजाम शाह) दुलाईवाली (बंग महिला), पंडित और पंडितानी (गिरिजा दत्त वाजपेयी), आपत्तियों का पहाड़ (केशव प्रसाद सिंह) आदि ।

इन कहानियों में मनोरंजन को ही अधिकतर बढावा देने का प्रयास मिलता है । छिटपुट सामाजिक मूल्यों के प्रसंगों का यत्र-तत्र बीजरूप अवश्य देखा जा सकता है मगर प्रधानता धार्मिक मूल्यों के तत्वों की ही रही है । तभी तो कथा सम्राट प्रेमचंद ने स्वयं कहा है कि "हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था । हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे । कहीं भिक्षा-नये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की । इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था । कहानी कहानी है, जीवन जीवन । दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती थी ।"[4]

प्रेमचंद युग

प्रेमचंद युग तो कहानी के विकास का स्वर्णिम काल है जिसमें वह जीवनसे जुड़कर नए मूल्यों को अभिव्यक्त करने में सक्षम सिद्ध हुई । खासकर,

सुधारवादी सामाजिक, नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति हम इस युग की अधिकांशत: कहानियों में पाते है । आर्थिक मूल्यों की अभिव्यक्ति भी कहानियों में हुआ है । सत्यनिष्ठा, दया, त्याग, दाक्षिण्य, पवित्रता, शांति तथा मानव समता संबंधी मूल्यों की अभिव्यक्ति इस युग में बहुत हुई है । कहानी के जीवनपरक घटनाओं से जुड़ाव के कारण आदर्श से धीरे-धीरे यथार्थ की ओर प्रयाण का प्रयास इसी युग से होता है । यहां आकर कहानी मात्र मनोरंजन न होकर जीवन की व्याख्या होने लगी थी । ऐय्यारी और तिलस्मी के करिश्मों से निकलकर कहानी जीवन की वास्तविक घटनाओं की ओर उन्मुख इसी युग में होती है ।

स्वाधीनता आंदोलन, विश्व के घटनाक्रम एवं भारतीय सजगता से तरह-तरह के मूल्यों का अन्वेषण इस युग में होना शुरू होता है । इसीलिए प्रेमचंद युग को मूल्यों का वैविध्य वाला युग भी कहा जा सकता है । मूल्य संक्रमण का स्वरूप भी इसी युग से होने लगा था । वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों का समन्वयात्मक रूप हमें इसी युग में स्पष्टत: दिखलाई पड़ता है । प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियां तो इसका उदाहरण है । इसी युग में राष्ट्रीय चेतना और पुनरूत्थान की भावना बलवती होने लगी थी तथा गांधीवादी दर्शन से जीवन मूल्य प्रभावित होने लगा था । कहानी अपनी शैशवास्था पार करके अपने यौवन के दहलीज पर^दस्तक देने लगी थी । मूल्यों के वैविध्य^वाले युग में

कहानी साहित्य भी व्यक्ति मूलक एवं समष्टि मूलक धारा में विभक्त हो गयी थी । प्रसाद और प्रेमचंद इन दो धाराओं के आधार स्तम्भ कथाकार हुए । इनमें प्रसाद मुख्यत: वैयक्तिक मूलक धारा से जुड़ने वाले कथाकार हुए । इसीलिए उनकी कहानियों में सौन्दर्य, प्रेम, करूणा, आदर्श, त्याग और आनंद से संबंधित मूल्यों की ही प्रधानता रही है । मगर सामाजिक मूल्यों का बहिष्कार उनकी कहानियों में भी नहीं मिलता है बल्कि उनकी कई कहानियों में तो वैयक्तिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों पर न्योछावर कर दिया गया है ।

प्रेमचंद वस्तुत: सामाजिक मूल्यों के कथाकार है । वैयक्तिक मूल्य को वे सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत ही स्वीकारते है । इसीलिए, प्रसाद की कहानियाँ जहाँ वैयक्तिक भावना, संवेदना के साथ से उभरती है तो प्रेमचंद की कहानियां सामाजिक भावना और संवेदना की धरातल से संबंध रहती है । यही कारण है कि प्रसाद कीआकाशदीप, स्वर्ग के खंडहर, सुनहला साँप, हिमालय का पथिक, कला, देवदासी, समुन्द्र संतरण, बनजारा, चूड़ीवाली, प्रणय-चिह्न, ज्योतिष्मती, रमला, विसाती, इन्द्रजाल आदि कहानियों में प्रेम, सौन्दर्य, त्याग से संबंधित वैयक्तिक मूल्यों पर विशेष चर्चा है । तभी तो आकाशदीप की चम्पा प्रतिकार के लिए कंचुकी में छिपाकर रखे गए कृपाण समुन्द्र में डूबो देती है और जलदस्यु से कहती है - "मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे

तुम्हारे लिए मर सकती हूँ । अन्धेर है जलदस्यु । तुम्हें प्यार करती हूँ ।"

(आकाशदीप, पृ॰ 18)

मगर उनकी कहानियों में सामाजिक मूल्यों की अवहेलना भी नहीं हुई है बल्कि पुरूस्कार की मधुलिका तो राष्ट्रीय उत्सव के लिए अपनी भूमि को वापस लेना नहीं चाहती और उसके एवज में मिले स्वर्ण मुद्राओं को राजा पर न्यौछावर कर देती है । जाहिर है यही सामाजिक या राष्ट्रीय मूल्यों के प्रति ही वैयक्तिक मूल्यों का समर्पण व्यक्त हुआ है । यही नहीं मगध के राजकुमार का मधुलिका के लिए यह प्रस्ताव कि वह महाराज से कहकर उसकी भूमि वापस दिलवा देगा, को जानते ही वह कह उठती है कि "नहीं वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है । मै उसे बदलना नहीं चाहती - चाहे उससे मुझे कितना ही दुख हो ।" (पुरूस्कार आंधी, पृ॰ 147)

सलीम कहानी में तो "मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य, मनुष्य के लिए प्यार करता है ।" (सलीम, इन्द्रजाल, पृ॰ 20) प्रेमचंद तो सामाजिक मूल्यों के प्रबल समर्थक रहे है । इसलिए उनकी कहानियों में गांधीवादी असहयोग, सत्य अहिंसा ही नहीं बल्कि विधवा विवाह, प्रेम विवाह, अछूतोद्धार, वेश्या-विवाह तथा दया, त्याग, न्याय और समता से संबंधित उच्च मानवीय मूल्यों को अभिव्यक्ति मिला है । हालाँकि कहानियों के आरम्भ में विशुद्ध आदर्शवाद लेकर चले थे ,

उनके विकास काल में वही आदर्श यथार्थोन्मुख हो गया और उत्कर्ष काल में प्रेमचन्द पूर्ण यथार्थवादी हो गये ।" (डा॰ लक्ष्मी नारायण लाल, हिन्दी कहानियों की शिल्प विधा का विकास, पृ॰ 170) इसीलिए उनकी अधिकांशत कहानियों में सत्य, अहिंसा, राष्ट्र प्रेम, सेवा भाव, आत्म गौरव, प्रेम, भाईचारा, मानव-समता आदि से संबंधित मूल्यों को ही केन्द्र में रखा गया है । यही कारण है कि मैकू में नायक ठेकेदार और शराबियों को पीटता है तथा 'सुहाग की साड़ी' में रा॰ प्रेम के लिए नायिका विदेशी वस्त्र की होली हेतु अपनी सुहाग की साड़ी ही दे देती है । मानव समता के मूल्य को तो 'पशु से मनुष्य' में स्पष्टत: अभिव्यक्त किया गया है । जहां प्रेमशंकर अपने मालियों को साझीदार बना लेता है । इसी तरह, डामूल का कैदी का सेठ खूबचन्द जो पहले स्वयं शोषक होता है बाद में स्वयं शोषण का विरोध करने लगता है । इनके लगभग कहानियों में सामाजिक मूल्यों की वकालत की गई है । युगानुरूप धार्मिक मान्यताओं व मूल्यों को भी इन्होंने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है । आर्थिक मूल्यों के कारण ही ये सभी मूल्यों का विघटन समझते है जैसा कि इन्होंने अपनी कहानियों में व्यक्त किया है ।

इस तरह, इस युग की अन्य कहानीकारों की कहानियां भी प्रसाद या प्रेमचंद की धारा से किसी न किसी रूप से संबंध होकर मूल्याभिव्यक्ति

की प्रक्रिया से सम्बद्ध रही है । यह ध्यातव्य है कि किसी विशेष संदर्भ में किसी कहानी में वैयक्तिक या सामाजिक मूल्य अलग-अलग प्रतिष्ठित भले ही हुआ हो, मगर देखा जा सकता है कि प्रधानता अधिकांशत: सामाजिक राष्ट्रवादी, मानवतावादी और न्यायवादी मूल्यों की ही रही है ।

इस युग की महत्वपूर्ण कहानियां निम्नलिखित है :-

बड़े घर की बेटी, पंच परमेश्वर, नमक का दारोगा, शंखनाद, गुलाम, रानी सारंधा, पछतावा, परीक्षा, प्रेम पूर्णिमा, पाप का अग्निकुंड, सदगति, पूस की रात, कफन (प्रेमचंद)

तानसेन, जहांआरा, अशोक, सिकन्दर की शपथ, ममता, चित्तौर उद्धार, हिमालय का पथिक प्रणय चिह्न, रूप की छाया, आकाशदीप, पुरस्कार, सलीम, परिवर्तन, करूणा की विजय, आँधी, मधुआ, प्रतिध्वनि, इन्द्रजाल तथा ग्राम (जयशंकर प्रसाद)

सतमी के बच्चे, बोल्गा से गंगा, मधुपुरी, बहुरंगी तथा कनैला की कथा (राहुल सांकृत्यायन)

इधर से उधर, मुंह न दिखाना, राजनीति या राजनीयत, चोरबाजारी की गंगोत्री, सरोज की दृढ़ता, वचन का निर्वाह, शेरशाह का न्याय तथा रक्तदान (डा॰ वृन्दावन लाल वर्मा)

प्रतिशोध, अभाव, क्रांतिकारिणी, राजधर्म, मास्टर साहब, ग्यारहवी मई आदि (चतुरसेन शास्त्री)

रक्षा बंधन, तीर्थ, पाप का फल, माता का हृदय, मोह तथा ताई आदि
(विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक)
श्रीमती गजानंद शास्त्री जी, ज्योर्तिमयी, राजा साहब का ठेंगा, चतुरी चमार, दो दाने, सफलता तथा अपना घर (सूर्यकांत त्रिपाठी निराला)
हार की जीत, अचलबम, सेवक, वैजूबावरा, पतितोद्धार, थोड़ा सा झूठ, भलाई का बदला आदि (सुदर्शन)
संध्या पूर्वी, रात की रानी, आंधी के छन्द, महावर, नीम चमेली, मेघ मल्हार (उषा देवी मित्रा)
मधुपर्क, हिलोर, दीप मालिका, मेरे सपने, उपहार, खाली बोतल, अंगारे, (भगवती प्रसाद वाजपेयी)
इन्द्रधनुष, चाकलेट, गल्पांजलि, बलात्कार, काल कोठरी, सनकी अमीर, चित्र विचित्र (पांडेय बेचन शर्मा उग्र)

(ग) प्रेमचंदोत्तर युग

इस युग की कहानियों में वस्तुत: फ्रायडवादी और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । कुछ कहानियों में तो पूर्वयुगीन प्रवृत्तियाँ ही बलवती दीखती है । खासकर कहानी कला के विकास में इस युग में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है । कहानी के भाव एवं वस्तु पक्ष में अनेकानेक आयाम जुड़े है । वैयक्तिक मूल्यों के साथ-साथ इस युग में सामाजिक, आर्थिक

एवं राजनैतिक मूल्यों को कहानी में बढ़ावा मिलता है तथा धार्मिक मूल्यों को नकारने की प्रवृत्ति जगती है । मानवता, राष्ट्रप्रेम और समानता जैसे मूल्यों की अभिव्यक्ति इस युग की कहानियों में ज्यादा हुई है । व्यक्ति स्वातंत्र्य, साहचर्य, दायित्व, स्वाभिमान तथा काम संबंधी मूल्यों से कहानियां ओत-प्रोत दीखती है । व्यक्तिगत यथार्थ में ही आर्थिक मूल्यों की समन्विति इस युग की कहानी में हुई है । मूल्यों में संक्रमण के बीज वपन का दौर भी यही युग है । इसीलिए डा॰ ब्रह्मदत्त शर्मा ने लिखा है कि -

"सन 1936 ई॰ तक इन कहानिकारों ने नव मूल्य निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया इसी कारण इसको संक्रांति काल कहा गया है ।"[5]

इस युग की महत्वपूर्ण कहानियाँ निम्नांकित है :-

प्रायश्चित, विवशता, राख और चिनगारी, दो बांके, दो पहलू, पराजय, कायरता आदि (भगवतीचरण वर्मा)

दुख, पर्दा, वैष्णवी, बाल्ते की कार्यवाही, सोमा का साहस, फलित ज्योतिष, चन्दन महाशय, निर्वासिता, पाँव तले की डाल, कर्मफल, अभिशप्त, चार आने, आदमी का बच्चा, पराया सुख तथा प्रतिष्ठा की बोल आदि (यशपाल)

जाह्नवी, अविज्ञान, अपना-अपना भाग्य, फाँसी, वातायन, दो चिड़ियां, नीलम देश की राजकन्या (जैनेन्द्र)

तांगेवाला, डाकू, एक सप्ताह, चौबीस घंटे, क,ख,ग, कामकाज (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)

प्रतिक्रिया, आशा-निराशा, महात्मा के भक्त (मन्मथनाथ गुप्त)

काकड़ा का तेली, घिसा हुआ पत्ता, तीन सौ चौबीस, चारा काटने की मशीन, वह मेरी मंगेतर थी, गोखरू, अंकुर, चट्टान तथा पिंजरा (उपेन्द्रनाथ अश्क)

विपथगा, रोज, नई कहानी का प्लाट, सभ्यता का एक दिन, अकलंक, पुरुष के भाग्य, चिड़ियाघर, पुलिस की सीटी, पठार का धीरज, पैगोडा वृक्ष, वे दूसरे तथा एकांकी (अज्ञेय)

रहमान का बेटा, जिन्दगी के थपेड़े, संघर्ष के बाद, सप्तदशमी, अब दीदी भूत बनी, खंडित पूजा (विष्णु प्रभाकर)

भद्दी दुनियां, हिरन की आँखें, केवल प्रेम ही, जीवन का रहस्य, मोम की मूर्ति, रज्जो, आखिरी स्केच, मकड़ी का जाला, मनोवैज्ञानिक पहलू, चित्रकार और शिल्पी, लाक्षणिक पुरुष, उस महायुद्ध में, मुरीला, फ्रांस के मैदान, सभ्यता की ओर समस्या (रामप्रसाद घिल्डियाल)

(घ) स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वतंत्रतापूर्व युग में हिन्दी कहानी अपने प्रेमचंदीय और प्रसादवादी प्रवृत्तियों के मेलजोल से शुरू होती है । इस बीच कहानी में हर स्तर पर संक्रमणशीलता का आभास होने लगता है । डा॰ नामवर सिंह के अनुसार यद्यपि "सन 1945 तक पहुंचते-पहुंचते इनकी रचना शक्ति को किसी ने ग्रस लिया । कुछ लोग कभी-कभी अच्छी व बुरी कहानियां लिखते रहे पर कुछ तो

बिल्कुल मौन हो गए ।"[6] स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों का बीजवपन इन्हीं परिस्थितियों में हुआ और खासकर जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल आदि की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के बीज रूप को आसानी से देखा जा सकता है ।

"स्वतंत्रता के बाद की हिन्दी कहानी को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों एवं प्रेरणाओं का लेखा-जोखा इस बात का प्रमाण है कि राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता को बड़े पैमाने पर एक अप्रतिम उपलब्धि के रूप मे स्वीकारा गया किन्तु विभाजन तथा गांधी हत्याकांड से मानवीय मूल्यों को बड़ा आघात पहुंचा जिससे स्वतंत्रता के सारे सपने बिखर गए । शरणार्थियों के काफिलों से अधिक उनके द्वारा उपस्थित जीवन मूल्यों के संकट ने हिन्दी कहानी के कथ्य और शिल्प को प्रभावित किया । यों मानव जाति को दूसरे महायुद्ध के भीषण लोमहर्षक परिणामों से मुक्ति भी न मिल पायी थी कि अणु तथा उदजन बमों के परीक्षणों से उत्पन्न तीसरे महायुद्ध की विभीषिका का धुंआं विश्व मन के क्षितिज पर फिर से घिरने लगा । पंचशील को स्वीकृति देने वाले चीन के बर्बर आक्रमण ने अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत जैसे विशाल देश की तटस्थावादी विदेश नीति की सच्चाई को बेनकाब कर दिया । इससे न केवल हमारी नवार्जित स्वतंत्रता वरन् दीर्घकालीन जीवन पद्धति भी खतरे में पड़ गई ।"[7]

"स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक यद्यपि कांग्रेस का एकाधिपत्य रहा किन्तु धीरे-धीरे देश में संकीर्ण मनोवृत्ति के नेताओं का दबदबा बढ़ने लगा और सिद्धांतों की जगह वैयक्तिक संभावनाओं का जन्म हुआ । राष्ट्र की जगह पार्टी और पार्टी के मूल्य पर व्यक्ति की इमेज का मोह बढ़ता गया । राष्ट्रव्यापी भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, दलबदल, भाई-भतीजावाद, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता जैसे अराष्ट्रीय तत्वों ने राष्ट्र की आर्थिक प्रगति की सारी संभावनाओं को सोख सा लिया । देश में मंहगाई आसमान छूती गई । अशिक्षा और अज्ञान के कारण प्राकृतिक साधन स्रोतों का सदुपयोग न होने से देश का आर्थिक विकास अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ । बेरोजगारी और जनसंख्या में वृद्धि हुई । परिवार नियोजन पर बहाई गई धनराशि का प्रयोजन सिद्ध न हो सका । गरीब-गरीब होते गए अमीर अमीर । समाजवादी समाज व्यवस्था का नारा हवा में उछलकर रह गया । गरीबी हटाओ आंदोलन की भी दुर्दशा हुई । भारतीय समाज में पूंजीपति और व्यापारी वर्ग के साथ सांठ-गांठ करने वाले नेता वर्ग का जन्म हुआ । पूंजीपतियों के निष्ठा में परिवर्तन हुआ । रातों-रात उनके राष्ट्रीय संस्करण तैयार हुए । स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज इससे प्रभावित हुए बगैर न रह सका । शोषण का तिहरा चक्र पूंजीपति, नेता, नौकरशाह - तीव्रगति से चालू हुआ । मध्यवर्ग तथा खेतिहर किसान और मजदूर की दशा बद से बदतर होती गई । विदेशी सहायता से यद्यपि देश में बड़े बड़े भिलाई, राउरकेला, पिंपरी, नेपा नगर,

दुर्गापुर आदि। औद्योगिक नगरी की नींव पड़ी किन्तु इनमें रहने वाले कामगारों के जीवन स्तर की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया ।"[8]

"इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के दबाव ने सर्वथा नए आधुनिक भारत को जन्म दिया । पुराने मान मूल्यों में परिवर्तन आया । पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता संस्कृति के प्रभाव से भारतीय जन जीवन में भौतिकतावादी दृष्टि को प्रधानता मिली जिसने सारे जीवन मूल्यों के नियम निर्धारिण में एक खास भूमिका निभाई । समाज के सभी रिश्तों विशेष कर औरत मर्द के रिश्तों के निर्धारण में अर्थतत्व की प्रमुखता और परम्परागत आस्थाओं की तिरस्कृति के साथ ही नई मान्यताओं और संभावित मूल्यों की स्थापना के अभाव ने भी कम रोल नहीं अदा किया । वास्तव में स्वतंत्रता के बाद की कहानी इन्हीं नए मूल्यों, संबंधों और मान्यताओं के खोजने तथा प्रतिष्ठापित करने की कहानी है । इसमें पाये जाने वाले अनास्था, कुंठा, निराशा, अजनबीपन, घुटन, संत्रास, आक्रोश विद्रोह आदि के स्वर वैज्ञानिक अविष्कार तथा तकनीकी प्रगतिजन्य युगीन परिस्थितियों की देन है ।"[9]

चूंकि साहित्यकारों ने अनेक शताब्दियों के पश्चात प्रथम बार एक स्वतंत्र देश के साहित्यकार की हैसियत को प्राप्त किया था इसीलिए साहित्य की विविध विधाओं में सबसे अधिक जागरूकता दिखाई पड़ती है । काव्य के

क्षेत्र में रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, त्रिलोचन., नागार्जुन, पंत, निराला, अंचल तथा डा॰ शिवमंगल सिंह सुमन, राष्ट्रीय भावना को बल दे रहे थे तो वहीं अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, मुक्तिबोध आदि प्रयोग करने में संलग्न थे । बालकृष्ण शर्मा नवीन, जानकी बल्लभ शास्त्री, बच्चन तथा सुमित्रा कुमारी सिन्हा गीतिकाव्य रचने में मग्न थे ।

गद्य के क्षेत्र में हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, बेनीपुरी, डा॰ भगवतीशरण उपाध्याय, डा॰ नगेन्द्र, डा॰ सत्येन्द्र तथा डा॰ विनय मोहन शर्मा आदि लेखन कर रहे थे ।

एकांकी के क्षेत्र में डा॰ रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, जयनाथ नलिन, भारत भूषण अग्रवाल तथा चिरंजीत आदि प्रसिद्ध थे तो उपन्यास में डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर, डा॰ रांगेय राघव तथा डा॰ देवराज आदि महत्वपूर्ण हस्ताक्षर रचनारत थे ।

कहानी तो स्वतंत्र्योत्तर युग की एक महत्वपूर्ण विधा ही सिद्ध हुई है । यही कारण है कि स्वतंत्र्योत्तर युग में लेखकों द्वारा कई कहानी आंदोलनों का सूत्रपात हुआ । कहानी के नए, पुरानेपन को लेकर, उसके भाव-वस्तु के प्रयोग को लेकर तथा कहानी अकहानी को लेकर अनेको वाद-विवाद हमें स्वतंत्र्योत्तर युग में ही दिखाई पड़ता है ।

"स्वतंत्रता पूर्व के जो हिन्दी कहानी मात्र कहानी नाम से जानी जाती थी वह आजादी के बाद दलबंदियों में फंसकर कभी नई कहानी बनी

तो कभी आंचलिक, कभी उसे सचेतन कहा गया, कभी साहित्यिक .... तो कभी कहानी के मृत्यु के नाम पर अकहानी का जेहाद बोला गया ।"10

यह लगभग सन 50-55 से शुरू होकर 72 तक जारी रहा और सन 1972 से समांतर कहानी आंदोलन की भी गूंज उठी जो अब तक किसी न किसी रूप में विवादास्पद है । आज हम देखते है कि समकालीन कहानी, आज की कहानी, सहज कहानी, कस्बे की कहानी, संकेतात्मक या प्रतीकात्मक कहानी, सामयिक कहानी, वैज्ञानिक कहानी, ग्राम कथा, नगर कथा न जाने किस किस चीजों से संबंधित कथाओं का नामकरण हो रहा है । जिससे शायद स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्येतिहास लेखन और कहानीकेविकास काल को स्पष्टत: सुबोध रूप से रेखांकित करने में असहजता, जटिलता और भटकाव का ही सामना करना पड़ सकता है । सन 1947 के बाद से आज तक खासकर नई कहानी सचेतन कहानी और अकहानी पर ही ज्यादा चर्चाएँ हुई है । मगर जाहिर है कि नई कहानी के लेखक, सचेतन कहानी के दौर में तो सचेतन कहानी के लेखक अकहानी के दौर में भी रचनारत रहे हैं । इसी तरह अकहानी के लेखकों को समांतर कहानी के दौर में और समांतर कहानी के लेखको को बाद की कहानियों के काल में भी रचनारत पाया जा सकता है ।

"स्वतंत्रता के पहले के कुछ कहानीकार सामाजिक समस्याओं की प्रतिक्रिया को अपनी रचनात्मक चेतना का स्वाभाविक अंग नहीं बना सके है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक बाद तो शिक्षित मध्य वर्ग में अवसरवादी चेतना ही दिखाई पड़ती है, पर सन 1950 तक आते-आते हम अनेक कठिनाईयों और समस्याओं के होते हुए भी एक स्वाभाविक आस्था का उन्मेष देखते है । विश्व राष्ट्रों के बीच भारतके बढ़ते हुए विश्वासयुक्त संबंधों के कारण आज के कहानीकार में रचनात्मक चेतना की विकास प्रक्रिया में त्रिमुखी प्रक्रिया का बोध प्रत्यक्षत: दिखाई पड़ता है । इस प्रक्रिया में पहला संघर्ष अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष है । दूसरा निजी चेतना अधिकाधिक मानवीय संवेदना से संबद्ध करने के लिए आत्म संघर्ष है । तीसरा संघर्ष मानव समस्याओं की अनुभूति प्राप्त करते हुए अपने जीवनानुभव को नयी कहानी में नयी पीढ़ी के मोहभंग की भंगिमा पर नये जीवन मूल्य को व्यापक और तीव्रतर बनाने के लिए है ।"[11] इसीलिए स्वातंत्र्योत्तर कहानी की "नयी कहानी में तलाश पात्रों की नहीं यथार्थ की है, पात्रों के माध्यम से यथार्थ की अभिव्यक्ति की । पहले कहानी कला मूल्यों को लेकर लिखी जाती थी अब जीवन मूल्यों को लेकर, पहले कहानी झूठी थी अब सच्ची है ।"[12]

मनमोहन मदारिया ठीक ही लिखते है कि "स्वतंत्रता से पहले कतिपय अपवादों को छोड़कर हिन्दी कहानी एकांगी और आदर्शोन्मुख थी । उसके सामने एक ही नारा था स्वतंत्रता का । स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी के कहानीकार के सामने स्वतंत्रता का नारा तो नहीं रहा, लेकिन एक नया

नारा जरूर उभरा, देश समृद्धि का । यों सन 47 से 62 तक हिन्दी कहानी-कार इससे मोहविष्ट रहे ।"[13]

स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में हमें भावगत एवं वस्तुगत समानताएं हद तक मिलती है । चाहे नई कहानियां हो या सचेतन कहानियां या अकहानी और समांतर कहानी प्राय: सभी में हमें नए प्रयोग का आभास होता है जो स्वतंत्रता पूर्व की कहानियों में नहीं के बराबर रहा है । इसीलिए, अध्ययन की सुविधा और इतिहास लेखन की सुगमता तथा स्वतंत्रता के पश्चात की हिन्दी कहानी के उपयुक्त विभिन्न रूप और नाम को एक ही शब्द से अभिहित किये जाने की सुविधा की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर युग की हिन्दी कहानी को स्वातंत्र्योत्तर कहानी कहा जा सकता है । "हमारा दृष्टिकोण यह रहा है कि इस कहानी साहित्य को टुकड़ों में न देखकर संपूर्णता में देखा जाय और इसके लिए स्वातंत्र्योत्तर कहानी साहित्य पूर्णतया उपयुक्त है । यों यह शब्द बड़ा व्यापक है और दीर्घजीवी भी ।"[14] हां स्वातंत्र्योत्तर कहानी की यात्रा व उसके पड़ावों पर प्रकाश डालने के लिए नई कहानी को उसको दिए गए नए नामों, सम्बोधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

इसीलिए प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध में स्वातंत्र्योत्तर युग की कहानियों के अध्ययन विवेचन हेतु स्वातंत्र्योत्तर कहानी जैसे नामकरण का ही प्रयोग किया गया है । स्वतंत्रता के बाद जाहिर है कि "वैज्ञानिक दृष्टिकोण का

उदय, सामाजिक शास्त्रों का विश्लेषण, राजनैतिक स्थितियों का प्रभाव आदि ऐतिहासिक तथ्यों के कारण मानव नियति का वर्तमान रूप बन रहा है । वह अच्छा है या बुरा, यह प्रश्न अप्रस्तुत है, संवेदनशील लेखक इसे अस्वीकृत कर रहा है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी इसी परिवेश के बोध को संवेदना के स्तर पर झेल रही है और व्यक्त कर रही है । मूल्यों का विघटन, राजनीतिक अराजकता, विज्ञान के संकल्प आदि स्थितियों के बीच हमारा कहानीकार कई अन्तर्विरोधों को अनुभव कर रहा है ।"[15]

छठे दशक के अन्त तक की कहानियों में मूल्यहीनता और टूटते बिखरते मूल्यों वाले स्वरों की ही प्रधानता देखने को मिलती है । खासकर छठे दशक में नए-नए मूल्य अन्वेषित हुए । सातवें दशक की कहानियां तो विघटित मूल्यों को अभिव्यक्त करने में काफी आगे रही है ।

कुल मिलाकर अगर कहा जाय तो छठे दशक से लेकर आज तक मूल्य संक्रमण का दौर है और "आज का कहानीकार विशिष्ट विचारधाराओं के समर्थन के लिए परम्परागत मूल्यों के प्रति आक्रोश नहीं व्यक्त करता अपितु अपने परिवेश की प्रामाणिक अभिव्यक्ति का ही प्रयास करता है । युगीन परिस्थितियों के अनुरूप ही सामाजिक संदर्भ तथा सम्बन्ध भी परिवर्तित होते रहते है और किसी समय अत्यन्त सार्थक लगने वाले जीवन मूल्य धीरे-धीरे अर्थ-हीन लगने लगते है । आज की हिन्दी कहानी इन्हीं परिवर्तित मूल्यों से

उत्पन्न संघर्ष की कहानी है । ..... इसमें एक ओर परम्परागत मूल्यों के प्रति आक्रोश का स्वर सुनाई देता है और दूसरी ओर कुछ नवीन मूल्यों की सर्जना का संकेत भी मिलता है ।"[16]

स्वातंत्र्योत्तर युग की निम्नलिखित स्वातंत्र्योत्तर कहानियां जो विभिन्न कहानी आंदोलनों से भी संबंधित रही है काफ़ी प्रसिद्ध और महत्व-पूर्ण साबित हुई है ।

नई कहानी आंदोलन से संबंधित महत्वपूर्ण कहानियां है :-

मलबे का मालिक, मन्दी, परमात्मा का कुत्ता, उसकी रोटी, अपरिचित, सुहागिनें, मिस पॉल, एक और जिन्दगी, जंगल, जानवर और जानवर, आखिरी सामान, जख्म, सेप्टीपिन, आद्रा, ग्लासटैंक, हकहलाल, मवाली, नये बादल, जीनियस, वासना की छाया में, एक ठहरा हुआ चाकू, पाँचवे माले का फ्लैट, पहचान, फटा हुआ जूता, क्लेम, कई एक अकेले, गुनाहे बेलज्जत, मरूस्थल, आज के साए (मोहन राकेश)

मेहमान, दायरा, रिमाण्डर, चुनाव, आत्म साक्षात्कार, शहर की यह रात, प्रतीक्षा, अभिमन्यु की हत्या, किनारे से किनारे तक, टूटना, पास-फेल, बिरादरी बाहर, खुशबू, पुराने नाले पर नया फ्लैट, नए-नए आने वाले, आत्मा की आवाज (राजेन्द्र यादव)

उपर उठता हुआ मकान, दु:खों के रास्ते, दिल्ली में एक और मौत, माँस का दरिया, खोई हुई दिशाएँ, एक रूकी हुई जिन्दगी, मुर्दों की दुनिया,

धूल उड़ जाती है, तलाश, देवा की माँ, नीली झील, मेरी प्रेमिका, बयान पराया शहर, नागमणि, आसक्ति, कुछ नहीं - कोई नहीं, दूसरे, सांप , युद्ध,लड़ाई,बेकार आदमी, जोखम, जार्ज पंचम की नाक, अपने देश के लोग, लाश, राजा निरवंशिया, एक अश्लील कहानी (कमलेश्वर)

कुत्ते की मौत, माया दर्पण, लंदन की एक रात, दहलीज, अंधेरे में, सितम्बर की एक शाम, तीसरा गवाह, डायरी के खेल, माया का मर्म, पिक्चर-पोस्टकार्ड, अन्तर, लवर्स, परिंदे (निर्मल वर्मा)

डिप्टी कलेक्टरी, दोपहर का भोजन, हत्यारे, असमर्थ हिलता हाथ, खलनायक, जिन्दगी और जोंक, निर्वासित (अमरकांत)

रसप्रिया, पंचलाइट, लाल पान की बेगम, टेबुल, अतिथि सत्कार, सबदिया, पुरानी कहानी नया पाठ, काकचरित, आत्म साक्षी, आजाद परिंदे, प्रजा-सत्ता, तीर्थोदक, तीसरी कसम, नैना जोगिन, जलवा (फणीश्वरनाथ रेणु)

एक शीर्षकहीन स्थिति, श्रीमती मास्टन, कर्णफूल, एक इति श्री, एक समर्पित महिला, वर्षा भीगो, दुर्गा, किसका बेटा, वह मर्द थी, दूसरे की पत्नी के पत्र, अनबीता व्यतीत, तथापि, तिष्यरक्षिता की डायरी (नरेश मेहता)

कमर के उमर, पिता दर पिता, जिनके मकान ढहते है, एक अमूर्त तकलीफ, तलघर, राख, पैरोडी, शबरी, थर्मस में बंद कुनकुना पानी, किस्सा सुतुरमुर्ग का, एक समान्तर कहानी (रमेश बक्षी)

एक योद्धा शत्रुघाती, दो दुखों का एक सुख, सुहागिन, बढ़ती हुई खाई, माता, रूका हुआ रास्ता, भस्मासुर, पोस्टमैन, उसने नहीं कहा था (शैलेश मटियानी)

मेरा दुश्मन, अजनबी, रात, इनकार, शैडोज, मरी हुई मछली (कृष्णबलदेव वैद)

गुलरा के बाबा, पक्षाघात, इंसाजाइ अकेला (मार्कण्डेय)

चीफ की दावत, सिफारिशी चिट्ठी, खून का रिश्ता, भटकती राख (भीष्म साहनी)

वापसी, प्रश्न और उत्तर, मछलियां, चाँदनी में बर्फ पर, जिन्दगी और गुलाब के फूल, पचपन खम्भे लाल दीवारें, एक और विदाई, दूसरे के लिए, छुट्टी का दिन, पैरंबुलेटर, खुले हुए दरवाजे, मोहबंध, नींद, अध्यापक, जाले, कच्चे धागे (उषा प्रियंवदा)

ईमा के घर के इंशान, एक कमजोर लड़की की कहानी, अभिनेता, तीसरा आदमी, कोल और कसक, आकाश के आईन में, ऊँचाई, दीवार, बच्चे और बरसात, अकेली, खोटे सिक्के, यही सच है, बंद दराजों का साथ (मन्नू भंडारी)

सिक्का बदल गया, यारों के यार, तिन पहाड़ (कृष्णा सोबती)

चाँद और टूटे हुए लोग, गुलकी बन्नो, सावित्री नं॰2, बन्द गली का आखिरी मकान, स्पर्श, पृथ्वी, हिरनाकुश का बेटा, कुलटा, धुँआ, मरीज नं॰ सात (धर्मवीर भारती)

नन्हों, रेती, कर्मनाशा की हार, केवड़े का फूल, मुरदा सराय, बेहया, हाथ का दाग, अंध कूप (शिव प्रसाद सिंह)

इसी तरह सचेतन आंदोलन से जुड़ी महत्वपूर्ण स्वातंत्र्योत्तर कहानियां है :- घिराव, काला बाप; गोरा बाप, बाद की बात, गंध, सीधी रेखाओं का पूत, पानी और पुल, युद्धमन, कुछ और कितना, कील, प्याले, ठंडक, ब्लाटिंग पेपर, उजाले के उल्लू, पारदर्शक, घिरे हुए क्षण, दु:ख, सुबह के फूल (महीप सिंह)

उजाला, आइसक्रीम, यह भी क्या जिंदगी है, खोटी चवन्नी, वापसी, चूल्हे चौके के बाद, वर की खोज में, महान झूठ, पेन और समुन्द्र, निश्चय, पानी और रेत (कुलभूषण)

श्रीमती अनिता बजाज, कल्याणी, नर्स, कस्तुरीमृग, ममता का बंधन, बेटे का बाप, नायक-नायिका, मृत्यु का रूपक (कमल जोशी)

अग्नि दीक्षा, सिमटा हुआ दुख, अक्षांश, जो घटित हुआ है, यह सब असंभव है, मनुष्य चिह्न (हिमांशु जोशी)

क्रासिंग के उस पार, स्टीमर, अपने घर का पराया फासला, सेलर (रामकुमार)

दरार, रिश्ता, हररोज (बेदराही)

छोटी सी तानाशाही, आग, बीस सुबहों के बाद, कंप (मनहर चौहान)

अकहानी आंदोलन से संबंधित स्वातंत्र्योत्तर कहानियां ये है :-

रीछ, सब ठीक हो जायेगा, प्रतिशोध, आइसवर्ग, रक्तपात, दु:स्वप्न, कोरस, सुखांत, उत्सव, सपाट चेहरे वाला आदमी (दुधनाथ सिंह)

शेष होते हुए, पिता खलनायिका, बारूद के फूल, सीमाएँ, आत्महत्या, रचना प्रक्रिया, पेंस के इधर उधर, घंटा (ज्ञानरंजन)

चूहे, पगडंडियां, नया चश्मा, अलग-अलग कद के दो आदमी, परछाइयां, तिलिस्म, निमंत्रण, पेपरवेट, वी·आई·पी·, फ्राक वाला घोड़ा और निकर वाला साइस (गिरिराज किशोर)

विध्वंस, बीच की दरार, आवाजें फिर भी आरही थी, प्रेत, अपना मरना, सन्नाटा, कोई शुरूआत, वह आदमी, अभिशाप, एरीना, झूठ, नाटक अधूरा (गंगा प्रसाद विमल)

वटाबही, एक पति के नोट्स (महेन्द्र भल्ला)

काला रजिस्टर, डरी हुई मौत, इतवार नहीं, मैं, ब··· बेशर्मी, कौजी कार्नर, क,ख,ग, पचास सौ पचपन, पत्नी (रवीन्द्र कालिया)

अंत, भाषा, बातें, तहें, कड़ियाँ, साँसें, आदमी, समाज, शामें, खोज, छायाएँ, सड़क का दोस्त, अकेली आकृतियां, शहर, भूलें (प्रयाग शुक्ल)

लोग बिस्तरों पर, आखिरी रात, सुख, सुबह का डर, चायघर में मृत्यु, संकट, कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी, आदमी का आदमी (काशीनाथ सिंह)

बगैर तराशे हुए, एक सेंटीमेंटल डायरी की मौत, अविवाहित पृष्ठ, मरी हुई चीज (सुधा अरोड़ा)

दर्द और इंतजार, एक्सीडेन्ट, एक बदलता हुआ आदमी, रेस, रबर बैण्ड, बुखार, हथकटा, कटी हुई तारिखें, बचते हुए (अन्विता अग्रवाल)

दूसरे चेहरे, अलग-अलग अस्वीकार, काल विदूषक, सिलसिला, धरातल, केवल पिता, टापू पर अकेले, और .... अकर्मक क्रिया (से॰रा॰ यात्री)

एक कुतुबिकन का जन्म, रवि और शशि, बोहीमियन, धुन, एन्टी हीरो (विजय चौहान)

झाड़ी, परिणय, शवयात्रा, प्रेम पत्र, ट्यूमर, सोचने वाला जानवर, दूसरे के पैर, साथ, संवाद (श्रीकांत वर्मा)

एक तस्वीर के चारों ओर, भीड़ के बाद, वे दोनों, टट्टू सवार (विजय मोहन सिंह)

इसके अतिरिक्त समांतर कहानी आंदोलन से जुड़ी स्वातंत्र्योत्तर कहानी निम्नलिखित है :-

उसका बच्चा (कामता नाथ)

महापुरुषों की वापसी, व्यवस्था, मसीहा, क्षयग्रस्त, कनखजूरा, षड्यन्त्र, क्षेपक, उसी जगह (वल्लभ सिद्धार्थ)

मछली मरी हुई (अजित पुष्कल)

कुछ होने की स्थिति, खामोशी को पीते हुए, आतंक बीज, काले खरगोश (निरुपमा सेवती)

आतंक भरा सुख (मेहरुन्निसा परवेज़)

तानाशाही, बगैर तराशे हुए, एक सेंटीमेंटर डायरी की मौत, अविवाहित पृष्ठ, मरी हुई चीज, एक मैली सुबह (सुधा अरोड़ा)

कोई आग, पेशाब, बुलडाग, माँ, अजनबी सुख, साँप, मुखौटे, बैकअप, (डा॰ महेश्वर)

युगांतर जमीन का आखिरी टुकड़ा, गर्दिश के दिन, बहुत बड़ी लड़ाई, गणित, फासला, आतिश, मरीचिका, प्रतिरूप (इब्राहिम शरीफ)

एक निर्णय, चेहरे, परते, टूट जाने के बाद, लावा, बौना, इनकार, मुक्ति, ठहरा हुआ सवेरा, असमर्थ, जुर्म, दीपक, जहर, गहराई, फासला, तर्पण (पानू खोलिया)

मन, मत्स्यगंधा, फोड़ा, लाश, अहसास, पुधर्टना और सुकांत, संवादहीन मृत्यु (सिद्धेश्वर)

स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में रघुवीर सहाय, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, प्रभाकर माचवे, भीम सेन त्यागी, हरिशंकर परसाई, प्रियदर्शी प्रकाश, शिवानी, सोमावीरा, शांति मेहरोत्रा, सुरेश सिन्हा, जगदीश चतुर्वेदी, अनिता औलक, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, देवेन्द्र इस्सर, सत्येन्द्र शरत, चंद्रकांत बक्षी, राजकमल चौधरी, ज्ञान प्रकाश, रामनारायण शुक्ल, आनंद प्रकाश जैन, धर्मेन्द्र गुप्त, स्वदेश दीपक, रामदरश मिश्र, शेखर जोशी, हृदयेश, मधुकर सिंह, जैसे अनेक कहानीकारों की कहानियां भी सम्मिलित है । खासकर नवें दशक में अरूण प्रकाश का भैया एक्सप्रेस, धीरेन्द्र आस्थाना का मुहिम, वीरेन्द्र जैन का तलाश, नमिता सिंह का नील गाय की आंखें, शिवप्रसाद सिंह का धूप-छांव, अखिलेश का मुक्ति, बलवन्त सिंह का ऐली ऐली, उदय प्रकाश का तिरिछ, योगेश गुप्त का परास्वप्न, अमरकांत का कला प्रेमी, गिरिराज किशोर का बन्दरोली, कमलेन्दु शिशिर का कितने अपने दिन तथा राजी सेठ का तीसरी हथेली, कहानी संग्रह में आज की स्वातंत्र्योत्तर कहानियां संग्रहित है ।

इसीलिए हम देखते है कि स्वातंत्र्योत्तर कहानियों का भविष्य काफी उज्ज्वल है । इसके विकास हेतु अभी इनके सामने विस्तृत आयाम भी है और सफल, युगद्रष्टा, सचेतक रचनाकार भी ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कांता (अरोड़ा) मेहदीरत्ता - हिन्दी कहानी का मूल्यांकन (सन 1950 से 1975 तक), पृ. 13

2. डा. वासुदेव नंदन प्रसाद - साहित्य के विविध संदर्भ, पृ. 105

3. डा. परमानंद श्रीवास्तव - हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया, पृ.54

4. मुंशी प्रेमचंद - साहित्य का उद्देश्य, पृ. 3

5. डा. ब्रह्मदत्त शर्मा - हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ. 27

6. सं. डा. देवी शंकर अवस्थी - नई कहानी : एक शुरूआत, नई कहानी संदर्भ और प्रकृति, पृष्ठ 23।

7. डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - परिप्रेक्ष्य और प्रतिक्रियाएं, पृ. 115

8. संचेतना, दो दशक कथा यात्रा, मूल्यांकन विशेषांक, पृ. 56

9. संचेतना, दो दशक कथा यात्रा, मूल्यांकन विशेषांक, पृ. 56

10. डा. लक्ष्मपदत्त गौतम, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी, प्रकट, भारतीय साहित्य, 25 वर्ष, मई-जून 1973, संयुक्तांक, पृ. 53

11. डा. देवीशंकर अवस्थी - नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति पृ.

12. डा. इन्द्रनाथ मदान - हिन्दी कहानी, अपनी जवानी, पृ.

13. संपादक डा. रामदरश मिश्र व डा. नरेन्द्र मोहन - हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा, पृ. 71-72

14. डा. भैरू लाल गर्ग - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन (आलोचना) पृ. 15

15. डा. भगवानदास वर्मा - कहानी की संवेदनशीलता सिद्धांत और प्रयोग पृ.

16. सम्पादक डा. रामदरश मिश्र व डा. नरेन्द्र मोहन - हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा, पृ. 120

तृतीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के सन् 1960 -1980 के बीच के कुछ चर्चित व महत्वपूर्ण कहानीकार ।

तृतीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के सन् 1960 ई॰ से सन् 1980 तक के कुछ चर्चित प्रतिनिधि कहानीकार ।

भारतीय स्वाधीनता के बाद जैसा कि हम देखते है कि हमारे हिन्दी साहित्य में खासकर कहानी के क्षेत्र में कई तरह के, कई नामों वाले कहानी आन्दोलनों का जमावड़ा खड़ा हुआ है । इन कहानी आंदोलनों से हमारा हिन्दी साहित्य काफी कुछ प्रभावित हुआ है । इतना ही नहीं वरन् यह बात भी शत प्रतिशत सत्य दीखती है कि विभिन्न कहानी आंदोलनों ने कहानी के वस्तु-शिल्पगत परिवर्तन के साथ कहानीकारों के रूख, रूझानों को भी परिवर्तित किया है । इसीलिए कहानीकार विशेष द्वारा किसी विशेष आंदोलन का झंडावरदार होने का दावा किया जाना तथा सार्थक लेखक, आलोचक बन अपने आप को किसी खास आंदोलन से सम्बद्ध करना हम उस दौर में आसानी से देख सकते है ।

मगर स्वतंत्रता के बाद आंदोलनीय परिक्रमा के चक्कर में न जाने एक ही कहानीकार कई-कई आंदोलनों की परिक्रमा करने में भी नहीं चूके है । नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी, समकालीन कहानी, सक्रिय कहानी तथा जनवादी कहानी जैसे आंदोलनों की पृष्ठभूमि पर दृष्टि-पात करने से यह स्थिति बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है । आज भी कई नई कहानी, अकाहानी और सचेतन कहानी आंदोलन के मसीहा नए स्वरों में अपने तेवर बदलते नजर आ सकते है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी और हिन्दी कथाकारों के अध्ययन में सुविधा, सुलझाव और स्पष्टता के लिए हमने सन 60 से 80 के बीच के कुछ प्रतिनिधि व चर्चित कहानीकारों के उल्लेख के प्रसंग में आंदोलनात्मक ब्यौरा या सम्बद्धता को नहीं लिया है । यहाँ प्रस्तुत है कुछ स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के चर्चित एवं प्रतिनिध कहानीकारों का संक्षिप्त परिचय ।

राजेन्द्र यादव (1921) : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में राजेन्द्र यादव का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । स्वतंत्रता के पश्चात विकसित आधुनिक सामाजिक संचेतना के वे सशक्त कहानीकार है । इसीलिए डा॰ सन्तबख्श सिंह कहते है कि "वे उच्च तथा मध्य वर्गीय पात्रों के सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन में सफल हो सके है । इन सबके बीच भी उन्होंने व्यक्तिगत विशेषताओं को बराबर ध्यान में रखा है । ये पात्र प्राय: समाज के टूटे हुए, थके हारे लोग है, ये अधिकांश कहानियों में सेक्स पीड़ित, निराशा या उखड़े हुए लोग है । ये मन से अभिमन्य और कर्म से आत्महंता है । प्राय: इसी प्रकार का उनकी अधिकांश कहानियों का कथ्य है ।"[1] वे नगरीय जीवन के चित्रण को प्राथमिकता देते है और खासकर संक्रमणशील समाज के टूटते,बनते, बिगड़ते संबंधों को दर्शाने में रूचि लेते है । "किसी न किसी नए सत्य के उद्घाटन, यथार्थ अन्वेषण एवं मानव-मूल्यों की खोज से लगाव अथवा अपने आप से नोंचकर नये, अनजाने, अनसोचे पात्रों, परिस्थितियों में फेंक फैला देना उनके कथाकर्म का एक अन्तरंग हिस्सा है ।"[2] एकाकीपन, भय, संत्रास,

मृत्युदंश, वैयक्तिक प्रेम, नारी-पुरूष के नवीन संबंध, पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन आदि के प्राचीन संबंधों की स्मृति, संबंधों का टूटना एवं नवीन सम्बन्धों का निर्माण ही उनकी कथानक की पृष्ठभूमि है ।

खासकर स्वाधीन भारत में जो मानवीय मूल्य में संक्रमण वाली स्थिति है उसका वे अपनी कहानियों में बड़ी बारिकी से विवेचन करते है । चाहे नारी प्रेम के बदले नाम या माता-पिता, पुत्री-माँ और बाप-बेटे के टूटते पुराने आचरणों की ही बात हो, उनकी कहानियों में इसे आसानी से देखा जा सकता है । जहाँ लक्ष्मी कैद है, लंच टाईम, बिरादरी बाहर, वृक्ष, गार्जियन, प्रतीक्षा, एक कटी हुई कहानी, एक कमजोर लड़की की कहानी, टूटना और खेल खिलौने आदि कहानियाँ इसका सबूत है । लंच टाईम में माता-पिता के प्रति पुरानी आस्था गायब है । तभी तो पुत्री के प्रेम-विवाह करने पर पिता के विरोध करने में उसे असफलता मिलती है और बिरादरी बाहर में पिता का कोई महत्व नहीं रह जाता है । वृक्ष में तो भाइ, बहन को कत्ल ही करा देता है । प्रतीक्षा में गीता और नन्दा से एक नए संबंध को प्राप्त करने की जिजीविषा है ।

अत: विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्दों में "राजेन्द्र यादव निम्न वर्ग के यथार्थ के कहानीकार है, उनकी संवेदना भी प्रेमचंदीय है और चेतना भी । फर्क यह है कि उनमें अनेक विरोधों और प्रभावों का मिश्रण है । वह

यथार्थ के खुलासा के साथ साथ, शिल्प में तरह-तरह के प्रयोग करते है । जहाँ भाषा और तकनीक पर प्रयोगों का बोझ कम रहता है, वह उनकी कहानी प्रभावित भी करती है । शिल्प के प्रति जागरूकता के कारण ही वह नये कथाकार कहे जा सकते है, अन्यथा उनकी मुख्य प्रवृत्ति पात्र और परिस्थिति को यथावत रूप में देखने की है । एक कमजोर लड़की की कहानी में प्रयोग है, मगर अस्वाभाविकता यहाँ तक है कि नायिका पूर्व प्रेमी को पति के प्रति वफादारी दिखाने के लिए जहर देने को तैयार हो जाती है और अन्त में पति प्रेमी को बचा लेता है ।

इसके विपरीत जहाँ लक्ष्मी कैद है में रचना पद्धति सीधी यथार्थवादी है अत: यहाँ कहानी प्रभावक हो उठी है ।"[3] राजेन्द्र यादव की कहानियां संबंधों के विघटन को ही व्यापक से प्रस्तुत करती है न कि संबंधों के निर्माण को । इसका कारण शायद नए सम्बन्धों और मूल्यों का स्वरूप स्पष्टत: नहीं उभरना ही हो सकता है । उनकी कहानियों में सामाजिक मूल्य स्पष्टत: नहीं दिखाई पड़ते बल्कि कहा जा सकता है कि वैयक्तिक मूल्यों पर ही उनके सामाजिक मूल्यों का आधार टिका हुआ है । नास्तिक कहानी में उन्होंने धार्मिक मूल्यों पर कुठाराघात किया है । आर्थिक मूल्यों को वे सभी मूल्यों व संबंधों की जड़ मानने के पक्षपाती है । उनके अनुसार आर्थिक मूल्यों के विघटन और असंतुलन से ही सारे मूल्य इतर-बितर हो जाते है । तभी तो सिलसिला कहानी में आज का मनुष्य सहायता करने वालों को ही चूना

लगाता है और टूटना कहानी में परस्पर विरोधी संस्कार तथा आर्थिक विषमता ही प्रेम विवाह के दोनों पक्षों को तोड़ने लगती है ।

अत: राजेन्द्र यादव मूलत: नगरीय वैयक्तिक संबंधों के सजग कथाकार है । उनका प्रमुख कहानी संग्रह है : अभिमन्यु की आत्महत्या, देवताओं की मूर्तियां, किनारे से किनारे तक, खेल-खिलोने, टूटना और अन्य कहानियाँ, अपने पार, ढोल, जहाँ लक्ष्मी कैद है, छोटे-छोटे ताजमहल, प्रतीक्षा मेरी प्रिय कहानियाँ, राजेन्द्र यादव की श्रेष्ठ कहानियाँ ।

कमलेश्वर (1932) :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में कमलेश्वर भी एक सशक्त हस्ताक्षर है । वे मूलत: कस्बाई और नगरीय मनोवृति के कथाकार है जो उनके परिवर्तनशील जीवन दृष्टि का ही परिणाम है । इसीलिए, उन्होंने स्वयं भी लिखा है कि "जीवन दृष्टि ही वह प्रमुख बिन्दु है जिसके बदलने से कहानी का परिदृश्य बदला है । पुराने लेखकों का रास्ता साहित्य से जीवन की ओर बढ़ा पर नई कहानी ने इस रास्ते को बदला है और अब यह रास्ता जिन्दगी से साहित्य की ओर है ।"[4] डा॰ इन्द्रनाथ मदान इसीलिए उनके बारे में लिखते है कि "एक कस्बे का आदमी बड़े शहर में आकर किस तरह भटकन, अकेलेपन, सूनेपन को महसूस करता है, उसके लिए स्थिति और दृष्टि दोनों किस तरह बदल जाती है -

यह कमलेश्वर की कहानी का मूल स्वर है ।"[5]

"कमलेश्वर ने कहानी को मात्र जीवन खंडों अथवा घनीभूत क्षणों का संप्रेषण न मानकर उसमें निहित अर्थों और मूल्यों की खोज को कहानी माना है । वे मूल्य अनेक स्तरों पर घटित होते है और अपने परिवेश से उद्भूत प्रामाणिक अनुभव की गंभीर संवेदनात्मक प्रतीति कसते है ।"[6] "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को कमलेश्वर की कहानियों ने एक नयी दिशा दी है, एक स्वस्थ दृष्टि दी है । मध्य तथा निम्न वर्गीय जिन्दगी का सत्य ही इनका कथ्य है । इनमें सामाजिक एवं वैयक्तिक चेतना की संश्लिष्टता है । परम्परागत सामाजिक, नैतिक रूढ़ियों तथा जड़ताओं के प्रति इसमें विद्रोही स्वर एवं वैयक्तिक नैतिकता की स्थापना हुई है और सूक्ष्म एवं सजग दृष्टिकोण से नवीन जीवन मूल्यों का अन्वेषण है ।"[7]

वे सामाजिक और धार्मिक मूल्यों को ज्यादा महत्व नहीं देते है बल्कि वैयक्तिक मूल्यों पर वे ज्यादा बल देते है । उनके अनुसार आर्थिक मूल्यों के कारण ही प्राचीन मूल्य और वैयक्तिक मूल्यों को खतरा है । इसीलिए गर्मियों के दिन, राजा निरबंसिया आदि कहानी में वे इसको विवेचित किए है । वे कहानी के मूल्यान्वेषण पर बल देते है । वे कहते है कि "लेखक स्पष्टदृष्टा और भविष्य वक्ता होने के खोल उतार कर फेंक देता है क्योंकि वह सीधे-सादे मानवीय संकट का सामना करता है और

अपनी हर कहानी में यथार्थ को खोजना और अभिव्यक्त करना चलता है । वह किसी भी प्रकार के आरोपण को अस्वीकार करता है और आधुनिकता के संक्रमण को वहन करते भारतीय व्यक्ति को उसकी नितांत भारतीय परिस्थितियों और समय में सम्प्रेषित करता है । वह आरोपित, झूठी और खोखली मर्यादा तथा नैतिकता भंग करता है और व्यक्ति की नैतिकता को प्रश्रय देता है, जो काले और सफेद की धार्मिक मान्यताओं को अस्वीकार कर मनुष्य के उन नये मूल्यों को प्रश्रय देता है जो उसकी अस्तित्व के अनिवार्य शर्त बन गए है । वह धार्मिक मानवतावाद से पृथक न्याय और समता पर आधारित व्यापक मानवीय मूल्यों को अंगीकार करता है ।"[8] उनके कहानी संग्रह है : राजा निरबंसिया, कस्बे का आदमी, खोई हुई दिशाएँ, मांस का दरिया, जिन्दा मुर्दे, बयान तथा अन्य कहानियाँ, कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियाँ, मेरी प्रिय कहानियां । इन्होंने सशक्त कहानीकार के रूप में लम्बी यात्रा की ।वे नयी कहानी लेखक के रूप में कहानी लेखन प्रारम्भ कर सन बहत्तर में समान्तर कहानी के जन्मदाता के रूप में उभरे ।

मोहन राकेश (1925-1972) : - मोहन राकेश सामाजिक मूल्यों के कथाकार है । मध्य वर्गीय चेतना ही उनकी कहानियों का आधार है । वे अपनी कहानियों को एक व्यक्ति की कहानी न मानकर पूरे समय की कहानियाँ मानते है । (नये बादल की भूमिका) "वे नयी कहानी की दिशा

सामाजिक स्वीकारते है । उन्होंने अपनी कहानियों में असन्तोष और विद्रोह की भावना को जन्म दिया है ।"[9] (आज के साए पृ. 33) अपनी कहानियों में मानवीय आधार पर मानव समानता मूल्य की स्थापना पर बल देते है । जख्म तथा मलबे का मालिक आदि कहानियों में वे आर्थिक मूल्यों का विरोध करते है क्योंकि जख्म का कारण ही आर्थिक मूल्य है जहां मलबे का मालिक मनुष्य बन जाता है मगर उस पर उसका अधिकार ही नहीं हो पाता है । उन्होंने प्रेम, साहचर्य, वासना, मानव-समानता, बंधुत्व, न्याय एवं सौन्दर्य, जैसे मूल्यों की वकालत की है । "मोहन राकेश में मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था है । इसीलिए वे यथार्थ के कड़ुवाहट के बीच भी इन मूल्यों को एक धरोहर के रूप में सहेजते रहे है । इससे उनकी कहानियों का कथ्य झूठा, बेबाकी या आरोपित नहीं, प्रामाणिक, विश्वसनीय और यथार्थपरक बना है ।"[10]

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में सम्बन्धों के स्तर पर पनपने वाली यथार्थता को राकेश की कहानियों में अभिव्यक्ति मिली है । इनमें संबंधों के परिवर्तन का, उनकी मर्यादाओं के ह्रास का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण हुआ है । पिता-पुत्री (वासना की छाया में), माँ-बेटे (आद्रा जंगला), भाई-बहन (रोजगार), पति-पत्नी (आखिरी सामान, एक और जिन्दगी) आदि के संबंधों पर आधारित मोहन राकेश की ये कहानियां जहां संबंधों में आए विघटन को प्रस्तुत करती है, वहीं उनके अंदर से नये मूल्यों की खोज तथा

उनके निर्माण की ओर संकेत करती है । रूढ़ियों की जगह नए मूल्यों की स्वीकृति ही राकेश की कहानियों की अपनी जमीन है ।"[11] "इनका अधिकांश कहानी साहित्य सामाजिक चेतना से प्रेरित है ।"[12]

मलवे के मालिक में सामाजिक यथार्थ की खोज, उसके मूल्यों का निरूपण और संक्रमणशील दृष्टि मिलती है तभी तो मलवा भारत-पाकिस्तान के विभाजन के परिणाम तथा उजड़े हुए जीवन और टूटते हुए मूल्यों का प्रतीक है । हक हलाल, भूखे, मंदी, बस स्टैण्ड की एक रात, काला रोजगार आदि कहानियों में निरंतर सामाजिक अन्याय व सामाजिक विषमता के द्वारा मानव मूल्यों के ह्रास को दर्शाया गया है । एक और जिन्दगी में पुराने और नए मूल्यों की टकराहट है । एक और जिन्दगी में बारिश में भीगते हुए कुत्ते के साथ-साथ चलना व्यक्ति की बेहतर जिन्दगी की खोज ही है जो नए मूल्यों का संकेत देती है । इसीलिए धनंजय वर्मा ने कहा भी है कि "यह ठीक ही है कि इनकी कहानियों में युग के सामाजिक यथार्थ और वस्तु सत्य के संदर्भ में जीवन की बहुत तल्ख प्रतिक्रिया, बदलते हुए विश्वासों को गति देती चेतना और एक संक्रमणशील दृष्टि मिलती है, लेकिन मूल्यों की इस संक्रांति में भी विघटन और ध्वंस की गति और टूटते, ढहते विश्वासों की कगारों पर भी एक आन्तरिक मानवीय आस्था, निष्ठा और दृष्टि का संकेत भी मिलता है ।"[13]

इनके कहानी संग्रह है :- इन्सान के खण्डहर, नये बादल, जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी, फौलाद का आकाश, एक-एक दुनिया, आज के साए, मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियाँ ।

धर्मवीर भारती (1926) "डा॰ भारती आधुनिक सामाजिक संवेदना के नये कहानीकार है । इनकी कहानियों का प्रारंभ प्रगतिशील आंदोलनों से अवश्य जुड़ा हुआ है, लेकिन प्रगतिशीलता की सिद्धांतवादिता का प्रभाव इनकी कहानियों में नहीं है, बल्कि इनकी कहानियों में आस्था, विश्वास तथा संघर्षशील क्षमता के दर्शन होते है । उनकी कहानियों में सामाजिक विसंगतियों के निराकरण तथा नये सामाजिक रूप विधान की व्यवस्था की व्याकुलता है । इसके साथ ही साथ व्यक्ति की गरिमा, उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की भावना है । इस भाव की उनकी प्रमुख कहानियाँ है - यह मेरे लिए नहीं है, सावित्री नम्बर दो, गुलकी बन्नो, तथा चाँद और टूटे हुए लोग इत्यादि ।

अपने समाज सापेक्ष दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति सापेक्षता को वे अस्वीकारते नहीं - दोनों में सामंजस्य चाहते है ।"[14] उन्होंने नगर के मध्यवर्गीय मानव के टूटते जीवन मूल्यों को अपनी कहानी में अभिव्यक्त किया है और नये मूल्यों के प्रति आशान्वित भी है । वे धार्मिक मूल्यों के स्थान पर मानवीय मूल्यों को तरजीह देने के पक्षधर है तथा आर्थिक मूल्यों के

विसंगतियों का विरोध करते है । इसीलिए हम उनकी अधिकांश कहानियों में नये मूल्यों की खोज, मानवीय संवेदना, संबंधों का बदलाव, सामाजिक चेतना आदि पहलू आसानी से पा सकते है । चाँद और टूटे हुए लोग, गुलकी बन्नो, सावित्री नम्बर दो., बन्द गली का आखिरी मकान, स्पर्श और पृथ्वी उनके कहानी संग्रह है ।

अमरकान्त (1925) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में अमरकांत भी एक महत्वपूर्ण कथाकार है । वे वस्तुत: सामाजिक मूल्यों के कथाकार है । "उनकी कहानियों में उन सारे पारिवारिक, सामाजिक संदर्भों की ऐतिहासिकता, समय और परिवेशगत सच्चाई मूर्त्त होती है जिसमें आदमी निरंतर धूर्त, ओछा, टुच्चा, दयनीय, दंभी, मक्कार होता गया है और सिद्धांत,आदर्श मूल्य विपर्यस्त ध्वस्त होते गए है ।"[15]

"अमरकांत की अधिकांश कहानियों को रूपायित करने वाली दृष्टि समष्टिमूलक है । इसका स्वरूप कभी सामान्य है तो कभी विशिष्ट । इसकी प्रवृत्ति कभी सामाजिक है तो कभी समाजवादी । अमरकांत ने अपनी कहानियों में प्राय: उस सामाजिक विषमता की ओर बार-बार संकेत किया है जो मानव जीवन के विकास में बाधक है ।"[16]

यही कारण है कि इनकी "कहानियां जिन्दगी की खरी और बेलौस तस्वीर पेश करती है । उन्होंने एक ओर नवीन आर्थिक परिस्थितियों

से जुझते निम्न वर्ग एवं मध्यवर्गीय समाज की पीड़ाओं और प्रवंचनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण किया तो दूसरी ओर स्वतंत्रता के पश्चात मूल्यों के विघटन मोहभंग एवं मानवीय संकट की भी बात की ।"[17] उन्होंने आर्थिक मूल्यों के साथ प्राचीन मूल्यों के अप्रासंगिक तत्वों का विरोध किया तथा मानवीय मूल्य के रूप में जिजीविषा, न्याय और मानव समानता आदि की स्थापना पर बल दिया है । हत्यारे, महान चेहरा, गगन विहारी, बहादुर, घड़सवार, लड़की की शादी, छिपकली, जिंदगी और जोंक, दोपहर का भोजन, डिप्टी कलक्टरी, तथा देशके लोग आदि उनकी प्रमुख कहानियाँ है ।

मौत का नगर, देश के लोग उनके कहानी संग्रह है ।

फनीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में रेणु जी एक महत्वपूर्ण आंचलिक कथाकार के रूप में माने जाते है । इनकी कहानियों में ग्रामांचलों का लोकगीत, लोकजीवन, परम्पराएँ, रूढियाँ, पंचायतों, सड़कों की धूल, नौटंकियाँ, धूल, धूप, रोशनी और वह सब कुछ है जो ग्रामांचलों में है ।"[18] वे एक ओर टूटते हुए मूल्यों का चित्रण करते है, विघटित समाज को आंकते है, वैयक्तिक नैतिकता, टूटते व्यक्तित्व और संत्रास को स्वीकारते है तो दूसरी ओर वे आस्था पर आधारित सामाजिक नैतिकता को भी प्रतिष्ठित करते है ।"[19] यही आस्था उनके लिए प्राचीन मोक्ष न होकर मानवीय मूल्य है । "प्राचीन मूल्यों की जड़ता की जगह रेणु ने मशीनी

युग के नये मूल्यों को अपनी कहानी में स्थान दिया है ।"[20]

ठुमरी, रसप्रिया, मेरी प्रिय कहानियां, रेणु की श्रेष्ठ कहानियां, आदिम रात्रि की महक, हाथ का जस और वाक का सत्त, अग्निखोर उनके कहानी संग्रह है ।

शिवप्रसाद सिंह : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में शिवप्रसाद सिंह भी आंचलिक कथाकारों के एक सशक्त हस्ताक्षर है । "व्यक्ति और समाज सत्यों के प्रकाश में जीवन की सार्थकता का उद्‌घाटन करना इनकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है ।"[21] कहा तो यह भी जा सकता है कि ये प्रेमचंद परम्परा के कथावाचक है । इसीलिए वे "मनुष्य के प्रति प्रतिबद्ध है । उनकी कहानियों में व्यक्ति की संवेदना का बारीकी के साथ चित्रण, सजीव पात्रों की सृष्टि, जीवन के प्रति आश्वासन, अनास्था के बीच आस्था आदि विशेषताएं दृष्टिगोचर होती है । पारिवारिक अन्तर्विरोधों के अतिरिक्त उन्होंने ग्राम जीवन की विसंगतियों, राजनीति के कुप्रभावों और उनके बीच व्यक्ति की विवशता को भी अपनी कहानियों में उभारा है ।"[22]

नागरिक जीवन पर आधारित मूल्यहीनता की कहानियों को वे "भोंडी, अभारतीय, सैक्सी तथा खल्वाट"[23] कहते है । यही कारण है कि वे आधुनिकता को मूल्य नहीं मानते है बल्कि मानवीय मूल्य को वे प्राचीन

सामाजिक नैतिकता पर परखने का आह्वान करते है । वे मनुष्य और उसकी जिन्दगी से मोहासक्त होते हुए लिखते है कि "मनुष्य और उसकी जिन्दगी के प्रति मुझे मोह है जो अपने अस्तित्व को उभारने के लिए विविध क्षेत्रों के विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है, अंधविश्वास, उपेक्षा, विवशता, प्रताड़ना, अतृप्ति, शोषण राजनैतिक शोषण और क्षुद्र स्वार्थान्धता के नीचे पिसता हुआ भी जो अपने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हक के लिए लड़ता है, हँसता है, रोता है, बार-बार गिरकर भी जो अपने लक्ष्य से मूँह नहीं मोड़ता, वह मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों और मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान है ।"[24]

आर पार की माला, कर्मनाशा की हार, इन्हें भी इंतजार है, मुरदा सराय इनके कहानी संग्रह है ।

मार्कण्डेय :- रेणु की परंपरा के संवाहक मार्कण्डेय भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के ग्रामीण कथाकार है । "उन्होंने ग्रामीण जीवन के बदलते परिवेश टूटते हुए मूल्य एवं नवीन मूल्यों की क्षमता को अपनी कहानियों में चित्रित किया है ।"[25]

वर्ग -वैषम्य, शोषण, असमानता, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों पर उन्होंने अपनी कहानियों में कठोर प्रहार किए है और उनकी अनुपयोगिता

सिद्ध करते हुए नवीन परिवर्तनों की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है । इन कहानियों में मानवीय संवेदनशीलता है, यथार्थ चित्रण है और सामाजिक दायित्व का निर्वाह है, जिसमें वे पूर्णतया सफल रहे है ।"[26] वे प्राचीन सामाजिक नैतिकता को सम्पूर्ण रूप में आँख मूंद कर तोड़ने के भी पक्षपाती नहीं है ।

माही, महुए का पेड़, भूदान, हँसा जाई अकेला, पानफूल, सहज और शुभ तथा पत्थर और परछाई आदि इनके कहानी संग्रह है ।

रमेश वक्षी : स्वतंत्र भारत के साठोत्तर हिन्दी कथाकारों में रमेश वक्षी का भी स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है । खासकर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में जो संबंधों और मूल्यों में विघटन उपस्थित हुआ है, रमेश वक्षी ने अपनी कहानियों में इसे बहुत ही सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है । वे स्वयं पुरानी मान्यताओं, पुराने मूल्यों का विरोध करते थे । इसीलिए तो उन्होंने लिखा है कि "मै यह कह सकता हूँ कि समाज के वस्त्र जो नैतिकता के किसी टेलर ने सीये है, वे उटपटांग ढंग से काटे गये है और उनकी सिलाई आउट आफ डेट है - मै लिखने से पहले समाज का आउट फिटर होना चाहता हूँ । देखता हूँ कि वस्त्रों पर परम्परा की गर्द जमा है, अत: पहले मै ड्राई-क्लीनर होना चाहता हूँ ।"[27]

अत: हम देखते है कि इन्होंने क्षण बोध को अधिक महत्व दिया है । थर्मस में कैद कुनकुना पानी में आधुनिक नारी संबंधित बनते बिगड़ते मूल्यों को दर्शाया गया है तो वायलिन पर तिलक कामोद में स्त्री-पुरूष संबंधों से बदले हुए मूल्यों को । इसी तरह कमर से उपर में आर्थिक मूल्यों के कारण टूट रहे संबंधों और मूल्यों को चित्रित किया गया है । इन्होंने वस्तुत: मध्यवर्गीय बोध को ही अपनी कहानियों में दर्शाया है । इनकी कुछ कहानियां काव्यात्मक भी है । किस्सा एक शुतुर्मुर्ग का उनकी ऐसी ही कहानी है । मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ, दूसरी जिन्दगी, कटती हुई जमीन, पिता दर पिता आदि इनके प्रमुख कहानी संग्रह है तथा वायलिन पर तिलक कामोद, शबरी, थर्मस में कैद कुनकुना पानी, बगैर शैड वाले बल्ब की रोशनी, कुछ माएँ, कुछ बच्चे, किस्सा एक शुतुर्मुर्ग का आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ है ।

हरिशंकर परसाई : स्वातंत्र्योत्तर भारत के साठोत्तर कथाकारों में व्यंग्य के सर्वश्रेष्ठ कथाकार है । भोलाराम का जीव, चावल से हीरे तक, पोस्टरी एकता, एक बेकार घाव, तोरा हीरा हेराइगा कचरे में, सड़क बन रही है, भाइयों और (बहनों), निठल्ले की डायरी, एक फरिश्ते की कथा आदि उनकी महत्वपूर्ण व्यंग्यात्मक कहानियां है । उन्होंने समाज के विरोधाभास, अर्थहीन आदर्श, खोखली जीवन-पद्धति, सामाजिक

प्रवंचना, पाखण्ड और वैषम्य को प्रभावशाली ढंग से अपनी कहानियों में व्यक्त किया है । लालफीताशाही, राजनीतिक स्थिति, विज्ञापन, सरकारी भ्रष्टाचार, राजनीतिक पार्टियां, समाज-सुधार, देश की कृत्रिम एकता आदि को ही इन्होंने कहानियों का आधार बनाया है । शहरीकरण और औद्योगीकरण से पैले पूंजीवादी कुप्रवृतियों तथा नेताओं के अनैतिक टूच्चागिरी के साथ इनकी कहानियां जीवन के हर पहलू पर प्रकाश डालती है । सड़क बन रही है में उन्होंने एक साथ कई लोगों पर व्यंग्य कसा है । उन्होंने बताया है कि सरकारी ईमारतों में कितना घपला होता है । "इमारत से बंगला प्रकट होता तो स्वाभाविक है, पर सड़क के पेट से बंगला पैदा होना चमत्कार है - भैंस के पेट से कुत्ता पैदा होने की तरह । ..... अनाथालय मे से हवेली पैदा हो जाती है ।"

इसी तरह पोस्टरी एकता में बताया गया है कि एकता मात्र पोस्टरों में रह गयी है । राजनैतिक मूल्यों का कहां तक विघटन हो गया है इसका आभास उनकी कहानी निठल्ले की डायरी से होती है जहां 'इन्कलाब जिन्दाबाद । उजड़े घर होंगे आबाद' का नारा तो लगाया जाता है मगर इसका परिणाम उल्टा ही होता है । अत: कहा जा सकता है कि परसाई जी स्वाधीन भारत के व्यंग्य कथा के विशिष्ट कथाकार है ।

उषा प्रियंवदा :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के महिला कहानीकारों में उषा प्रियंबदा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । उनकी कहानियों में वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों को बड़े ही सुन्दर ढंग से रूपायित किया गया है । वह मुख्यत: नारी के नए बनते बिगड़ते संबंधों को ही अपनी कहानी में स्थान देती नजर आती है । कहा तो यह भी जा सकता है कि स्वाधीन भारतीय परिवेश की नारी चेतना की सजग अभिव्यक्ति ही उनकी कथाओं का कथ्य है । इसीलिए डा॰ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने भी लिखा है कि "आज के नारी जीवन में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद जो परिवर्तन आए हैं और जिन नये मूल्यों की आत्मसात करने और पुराने मूल्यों को अस्वीकारने के लिए आज की नारी बिना सोचे-समझे अपनाने के लिए आकुल हो रही है, उसके क्या-क्या परिणाम हुए है, उषा प्रियंवदा की कहानियों में यह अत्यंत सूक्ष्मता के साथ मुखरित हुआ है ।"[23]

उन्होंने परंपरागत टूटते हुए मूल्यों को अपनी कहानी में बड़े ही सुन्दर ढंग से दर्शाया है । "वापसी" तो परंपरागत मूल्यों के टूटते हालात की ही कहानी है । अपनी कहानियों में उन्होंने नारी के दृष्टिकोण को ही ज्यादा महत्व दिया है । आर्थिक मूल्यों को आधार बनाकर भी उन्होंने कहानियाँ लिखी है ।

जिन्दगी और गुलाब के फूल, एक कोई दूसरा, फिर बसन्त आया, कितना बड़ा झूठ इनके कहानी संग्रह है ।

मन्नू भंडारी (1930) :- स्वातंत्र्योत्तर महिला कथाकारों में मन्नू भंडारी भी हिन्दी की महत्वपूर्ण कथा लेखिका है । उन्होंने भी नारी मन के जटिल द्वंद्वों व संवेदनाओं को अपनी कहानियों का आधार बनाया है । नगरीय जीवन की विसंगतियां, वैयक्तिक कुंठाएँ, सामाजिक विद्रूपताएं उनकी कहानियों का प्रस्थान बिन्दू है । खासकर मध्यवर्गीय चेतना को ही उन्होंने अपनी कहानियों में रूपायित किया है । आधुनिक परिवेश में मानवीय मूल्यों के बदलते, बनते, बिगड़ते स्वरूपों की उनकी कहानियों में आसानी से देखा जा सकता है । इन्होंने बाल मनोविज्ञान और टूटे परिवार के कारण त्रस्त नारी संवेदनाओं का सुन्दर चित्रण किया है ।

मैं हार गयी, श्रेष्ठ कहानियां, एक प्लेट सैलाब, आंखों देखा झूठ, यही सच है, तीन निगाहों की एक तस्वीर, प्रिय कहानियां, अकेली (राजेन्द्र यादव के साथ), एक पुरूष एक नारी (राजेन्द्र यादव के साथ) उनके कहानी संग्रह है ।

महीप सिंह (1930) :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के सचेतन कथा आंदोलन से सम्बद्ध महीप सिंह एक सफल और सजग कथाकार हैं । "उनकी कहानियों से घूमते शहर के लोग, झगड़ते बच्चे, रेलों में सफर करती और सड़कों पर रेंगती भीड़ देखने को मिलती है - कहीं न कहीं वे उनके बीच स्वयं खड़े होते है ।"[29]

इनकी कहानियां "परिवेश से संपृक्त व्यक्ति के अस्ति-नास्ति की कहानियां है, जिसमें संस्कारच्युत मर्यादा की अपेक्षा मानव मूल्यों की सही पहचान और उन्हें उजागर करने का अपूर्व सामर्थ्य है । वर्तमान जिंदगी की विषमताओं, विकृतियों, विडंबनाओं के बीच सहजता एवं सक्रियता का बोध इनकी सबसे बड़ी विशेषता है । व्यक्ति-व्यक्ति तथा समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों में आए तनाव को ये कहानियां नये-नये कोणों से प्रस्तुत करती है । पारिवारिक संदर्भों में स्त्री-पुरूष के आपसी सम्बन्धों को, उनके बीच के पहचाने हुए अनपहचानेपन को बड़ी तल्खी के साथ उभारा गया है । इन संबंधों को स्वार्थ के धरातल पर भी चित्रित किया गया है (काला बाप-गोरा बाप, ब्लाटिंग पेपर, ठण्डक, घिराव, घिरे हुए क्षण) बाप-बेटी मॉ-बेटी के सम्बन्धों को स्वार्थ और थोथी संवेदनाओं के दायरे में दिखाया गया है और इनके अंदर से झांकते नये मूल्यों और नई सच्चाईयों को उजागर करने का हर संभव प्रयत्न हुआ है (कील, स्वराघात, फोकस) ।"[30]

"आत्मसजगता और जिजीविषा इन कहानियों के प्रेरक तत्व है जिसके सहारे टूटते-बनते मानव-मूल्यों, ढहती, पनपती मान्यताओं, व्यक्ति तथा समाज की अपराजेय आस्थाओं को वाणी दी गई है । नगरों तथा महानगरों में भोगे जाते जीवन यथार्थ को आपसी सम्बन्धों की कड़वी अनुभूति को व्यक्तिगत सन्दर्भों में उरेहा गया है । {उजाले के उल्लू, घिराव, शोर, प्याले, घिरे हुए क्षण} पुराने मूल्यों की व्यर्थता का अहसास भी महीप सिंह की कई कहानियों का कथ्य है । आधुनिकता को इन कहानियों में एक स्थिर मूल्य नहीं, जीवन प्रक्रिया के रूप मे स्वीकारा गया है, जो सक्रिय जीवन बोध पर निर्भर है ।"[31]

अत: कहा जा सकता है कि"सन 60 के बाद की कहानियों को जीवन की ओर मोड़ने और उसे व्यक्तिगत अनुभवों की गिरफ्त से निकाल कर सचेतन दृष्टि से सम्पन्न करने वाले कथाकारों में महीप सिंह का महत्वपूर्ण योगदान है ।"[32]

उनके कहानी संग्रह है - सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव, कुछ और कितना, मेरी प्रिय कहानियां ।

दुधनाथ सिंह :" स्वातंत्र्योत्तर कालीन सातवें दशक की हिन्दी कहानियों को वैचारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में दुधनाथ सिंह का भी अपूर्व योगदान है । उनकी कहानियों का कथ्य उस वैचारिकता का साक्षी है जो किसी आइडिया अथवा मूल्य की पुष्टि नहीं करती, क्योंकि आज के संदर्भों में कल के वैज्ञानिक सत्य और सामाजिक मूल्य झूठे पड़ गए है । इन कहानियों में पूर्व अनिर्णीत मनोवैज्ञानिक असम्मत, निश्चित और बने-बनाये व्यवहारों और स्वाभाविकताओं के विरूद्ध असाहित्यिक और अकथात्मक, लेकिन अनुभव द्वारा प्राप्त सत्य को अभिव्यक्ति दी गई है ।"[33]

इसीलिए इनकी कहानियों में उद्देश्यहीनता का लांछन लगाना अनुचित लगता है । बल्कि कहा तो यह जाना चाहिए की इनकी कहानियों को कोई आरोपित उद्देश्य नहीं है । इनकी "कहानियों के पात्र अवसाद, अकेलापन और व्यर्थता बोध की नियति भोगते हुए चित्रित है । आत्मपरकता की परिधि में जकड़े (रक्तपात, आईस वर्ग, रीछ, स्वर्गवासी) दिखाई देने पर भी इनमें बंधे-बंधाए मूल्यों, परम्पराओं तथा कल्पनाओं को तोड़ने की क्रूरता है (सपाट चेहरे वाला आदमी) । सेक्स के धरातल पर अंकित पात्रों में स्त्री-पुरूष संबंधों की उस सच्चाई को महत्व दिया गया है जिनके कारण इनमें नग्नता और भयावहता आई है । विकृत सेक्स या दमित कामवासना इन कहानियों का साध्य नहीं बल्कि साधन है । रक्तपात कहानी के शैल्पिक

बचाव से जो कुछ भी ध्वनित होता है वह सेक्स न होकर तनाव भरी मन: स्थिति में पागल माँ और पुत्र के समाप्त प्राय, अर्थहीन, उपहासास्पद और विवश सम्बन्ध है । इसी प्रकार रीछ कहानी की वस्तु से नि:सृत शिल्प में किसी आइडिया का प्रतिपादन नहीं है । इसमें अतीत की स्मृति सुखद होती है कि प्रचलित अवधारणा के विपरीत एक अछूती, मनोविज्ञान और परम्परा से असम्मत सच्चाई की अभिव्यक्ति हुई है ।"[34]

यह सर्वविदित है कि "स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में हुए रद्दोबदल से सोचने, समझने के पुराने तरीके बदले है, हमारी मानसिकता बदली है । इससे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक मूल्यों में वर्तमान जीवन की विसंगतियों को सहेजने की क्षमता घटी है । उलजलूल जीवन को बेहतर बनाने, पुराने जड़मूल्य को नयी गरिमा देने वाले लंबे-चौड़े वादे मोहभंग की सीमा तक झूठे साबित हुए है इसे लेखक का संवेदनशील मानस एक सामान्य आदमी की भांति झेलने के लिए विवश नहीं हुआ है, वरन उन स्थितियों की चपेट से आक्रांत और उसके अच्छे-बुरे परिणामों को भोगने के लिए भी अभिशप्त है । सुविधाओं के अभाव में वह जिन यातनाओं से गुजर रहा है, उसे जिन नई समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, वे ही उसकी (दुधनाथ सिंह की) कहानियों के उद्गम स्रोत है ।"[35]

इनकी कहानियों के "अन्तरबाह्य प्रकृति में अ ोपित आदर्शों, पारंपरिक जड़ मूल्यों और नैतिकता के बंधनों को तोड़ फेंकने की उकताहट है । नये संदर्भों में जीवन के अनुभवों की व्याख्या में इन कहानियों की संवेदनात्मक गहराई दर्शनीय है । इनके कथ्य में संक्रांतिकालीन मूल्यों को पूरी सच्चाई के साथ उभारने का प्रयत्न है, जो इतिहास की अनिश्चिक घड़ियों में यद्यपि पूर्णतया टूटे और बिखरे नहीं है किन्तु उनमें घुन अवश्य लग चुके है उनके विघटन की शुरूआत हो चुकी है ।"[37]

इनकी लगभग"कहानियों की मूल संवेदना में मध्यवर्गीय जीवन की तथाकथित आधुनिकता और विघटित मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति के साथ ही वर्तमान जीवन के परिप्रेक्ष्य में उनकी व्यर्थता और जड़ता पर निर्ममता के साथ आघात किया गया है ।"[38]

इनके कहानी संग्रह है :- फेंस के इधर और उधर, यात्रा, घंटा, पिता आदि ।

बुद्धिजीवि, अमरूद का पेड़, याद और याद, मनहूस बंगला, दिवास्वप्नी, शेष होते हुए, सम्बन्ध, सीमाएं, पिता, रचना प्रक्रिया, खलनायिका और बारूद का फूल, छलांग तथा फेंस के इधर और उधर, इनकी प्रतिष्ठित कहानियां है ।

महेन्द्र भल्ला :- महेन्द्र भल्ला स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में व्यक्तित्व को सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में देखने और दर्शाने वाले कथाकार है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सामाजिक संबंधों में हो रहे परिवर्तन को वे अपनी कथाओं में बखूबी रूपायित करने वाले कथाकार है । एक पति के नोट्स उनकी बहुचर्चित कहानी है जिसमें आधुनिक जीवन मूल्यों के नवीन स्वीकृत रूप का यथार्थ चित्रण एवं उसके खोखलेपन को दर्शाने का प्रयास हुआ है । इसमें पति और पत्नी के बीच नए संबंधों का आभास प्रस्तुत हुआ है । अत: कहा जा सकता है कि वे यथार्थ के चितेरे है । अपने समय के टूटते हुए सामाजिक मूल्यों को वे बहुत सूक्ष्म ढंग से अपनी कहानियों में चित्रित करने में सफल हुए है । एक पति के नोटस, फुन्सियां, तीन चार दिन, बदरंग, दिन शुरू हो गया, दीक्षा आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियां है ।

रवीन्द्र कालिया : - रवीन्द्र कालिया अकहानी आन्दोलन के खेमें में आने वाले कहानीकार माने जाते है । इन्होंने भी परिवर्तित जीवन मूल्यों और बदलते हुए सामाजिक संबंधों को अपनी कहानियों में चित्रित करने वाले स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में रचनारत है । वे स्वयं अपने बारे में कहते है कि "अपनी धारणा भी व्यक्त करूं, तो कहूंगा कि झूठ फरेब,

धोखादेही, प्रवंचना, हिपोक्रेसी, डिप्लोमेसी, दूसरे व्यक्तित्व भी मुझे परेशान नहीं करते और न ही इन पर व्यंग्य करना मुझे अभीष्ट है क्योंकि मै समझता हूँ कि ये यांत्रिक और प्राविधिक सभ्यता की समस्त यंत्रणा और विसंगतियों का शव अपने कंधों पर ढो रहे है । इनका अत्यंत आत्मीयता से उद्‌घाटन करना मुझे अधिक प्रिय है ।"[39]

इनकी कई कहानियों में कथावस्तु या उसमें नायक की भूमिका का नितान्त अभाव रहता है । ग्राम घटनाओं के वर्णन से ही कहानी बढ़ती है जैसे काला-रजिस्टर । असल में कहा जाय तो "रवीन्द्र कालिया जीवन की विडंबनाओं और विसंगतियों के कहानीकार है । उन्होंने जीवन की अर्थहीनता को अलग-अलग संदर्भों में संप्रेषित किया है । मै बड़े शहर का आदमी, पचास सौ पचपन, आज के आदमी की विडंबनाओं को ही अर्थ देने का प्रयास करने वाली कहानियां है ।"[40] "अपनी अभिव्यक्ति में यह कहानियां इतनी बेबाक है कि जिन्दगी की तमाम नग्नताओं को खोलकर बेझिझक पाठकों के सामने रखने में इन्हें कमाल हासिल है । यहां प्रेम और नैतिकता के पुराने आदर्श झूठे पड़ गए है । समरत्व सफेद पोशी सभ्यता को यहां बेनकाब किया गया है ।

..... जीवन की विसंगत स्थितियों को इन्होंने अपनी कहानियों में खूब उभारा है तथा पूर्व निर्धारित रूढ़ धारणाओं को झकझोरा

है । उनमें हर प्रकार की व्यवस्था और स्थापित मूल्यों के प्रति अस्वीकार है - मुल्यवत्ता से विच्छेद भी और मूल्यहीनता को मूल्य के रूप में स्वीकारने की जीवन दृष्टि भी ।"[41]

नौसाल छोटी पत्नी, गली कूचे, इनके कहानी संग्रह है । डरी हुई औरत, नौ साल छोटी पत्नी, बड़े शहर का आदमी, सिर्फ एक दिन, एक प्रामाणिक झूठ, काला रजिस्टर, क ख ग, त्रास, अकहानी, दफ्तर आदि इनकी चर्चित कहानियां है ।

"रवीन्द्र की यह कहानियां हिन्दी कहानी के कई स्थापित मूल्यों को तोड़ती है । ट्रीटमेंट, कैनवास, भाषा दृष्टि और कहानियों में उभरने वाले चेहरों के हिसाब से इन कहानियों में अपने पूर्वजों से टूटने का प्रयास है ।"[42]

काशीनाथ सिंह :- काशीनाथ सिंह स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के क्रांतिकारी कथाकार है जो अपनी कहानियों में क्रांति के आह्वान पर बल देते है । इनका "कहानी साहित्य चौतरफा संकट, त्रस्त सामाजिक व्यवस्था के प्रतिबिंबन का साहित्य है । इनमें वर्तमान अमानवीकृत जिन्दगी के विविध रंगों और रेखाओं को अंकित किया गया है ।"[43] इनकी आरंभिक कहानियां

संकट, आखिरी रात, कस्बा और साब की पत्नी आदि में अस्तित्व के संकट से ग्रस्त आदमी की मानसिक उभारा गया है तथा परिवेश के संक्रांत जीवन को विभिन्न कोणों से परखा गया है ।"[44] ये जनवादी कथाकार है जो कहानी को मनोविश्लेषणवादी वैयक्तिकता की सीमा से हटाकर सामाजिकता के कठघरे में खड़ा करने के पक्षधर्मी है ।

लोग बिस्तरों पर उनका कहानी संग्रह है । आखिरी रात, सुख सुबह का डर, चायघर में मृत्यु, लोग बिस्तरों पर, तीन काल कथा, संकट, कस्बा जंगल और साब की पत्नी, मुसईचा, माननिय होम मनिस्टर के नाम आदमी का आदमी तथा सुधीर घोषाल आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानियां है ।

इनकी कथा रूझान को देखकर कहा जा सकता है कि "काशीनाथ सिंह की कहानियों में आधुनिक जीवन की विडंबनाओं, अतृप्त मौन भावना, विविध सामाजिक अभिशापों, भीड़ में खोए हुए इंशान, आधुनिक जीवन की बोरियत आदि का चित्रण है । लेखक सामाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है और वह मानवीय मूल्यों की खोज करना चाहता है ।"[45]

प्रयाग शुक्ल :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी साहित्य के सिद्धहस्त कथाकारों में प्रयाग शुक्ल का भी नाम आता है । ये साठोत्तर कहानीकारों में आते है । "ये सरल ढंग से सामाजिक परिवेश को नए ढंग से प्रस्तुत करने में समर्थ है । इन्होंने जीवन के छोटे-छोटे यथार्थ खण्डों के साथ ही साथ सामयिक युगबोध और भावबोध को बांधने की अपनी कला का परिचय दिया है । इनमें अनुभूति की सच्चाई और ईमानदारी है, अत: इनकी कही हुई बातें सहज यथार्थ के स्तर का स्पर्श करती हुई दिखाई पड़ती है । इन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात किया है और गहराई से महत्वपूर्ण सत्यों की खोज की है तथा इन्हें नवीन परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है ।"[46] उनकी कहानियों में व्यक्ति तथा उसका परिवेश बिंब-प्रतिबिंब भाव से एक दूसरे को संप्रेषित करते प्रतीत होते है । स्मृति प्रवाह का नैरंतर्य एक परिवेश में दूसरे परिवेश की, एक बिंब में दूसरे बिंब की घुलावट और टकराहट का तथ्य चित्रण वास्तविक अनुभव संभव बनाता है और उनके माध्यम से आत्मस्थितियों के अन्वेषण की अनात्य यथार्थता के बीच उसके अमर ही व्यक्ति की सार्थकता को, उसके अस्तित्व को सिद्ध और प्रमाणित करने की भूमिका प्रस्तुत करते है ।"[47] डा॰ गंगाप्रसाद विमल के अनुसार उनकी कुछ कहानियां प्रसंग वृतों की कहानियां है ।

शाये, कितना कुछ, सामान, भाषा, अकेली आकृतियां, अन्त, बातें, तहें, कड़ियां, सड़क का दोस्त, सांसे, आदमी, समाज, खोज, छायाएं, शहर, भूलें आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियां है । अकेली आकृतियां और इसके बाद इनके कहानी संग्रह है ।

गिरिराज किशोर :- गिरिराज किशोर सचेतन कहानी से जुड़े हुए कहानीकार है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में कथाकार गिरिराज किशोर की कहानियों का प्रस्थान बिंदु मध्य वर्गीय सामाजिक संघर्ष और उनकी मनो-वृत्तियां है । किशोर जी स्वाभाविकता और सामाजिकता के बीच सांमंजस्य पर बल देते है । इनकी कहानियों में भी पुराने और नए मानवीय मूल्यों के संघर्ष की स्थिति को चित्रित किया गया है । सामाजिक भ्रष्टाचारजनित कथानक इनकी कहानियों की विशेषता है ।

नीम के फूल, चार मोती बेआब, पेपरवेट, रिश्ता और अन्य कहानियां इनके कहानी संग्रह है । क्लर्क, बी·आई·पी·, चूहे, टेप, चेहरे, पगडंडियां, शीर्ष कहीन, रिश्ता, नया चश्मा, फ्राक वाला घोड़ा निकर वाला साईस, पेपरवेट, नायक, अलग-अलग कब्र के दो आदमी, तथा जनाने डिब्बे में मर्द आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानियां है । इन सभी कहानियों में

हमें स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के परिवर्तित सम्बन्धों और टूटते,बनते, बदलते मानव मूल्यों का चित्रण दिखाई पड़ता है । इसीलिए तो डा·सुरेश सिन्हा ने इनके बारे में कहा है कि "गिरिराज के पास स्पष्ट एवं स्वस्थ जीवन दृष्टि है और आधुनिक यथार्थ से वे पूर्णतया परिचित हैं । इन कहानियों में सूक्ष्म प्रतीक विधान, वातावरण का गहरापन और चरित्र चित्रण की सांकेतिकता विशेष रूप से द्रष्टव्य है । सामाजिक सोद्देश्यता को उन्होंने कभी अस्वीकार नही है और निरंतर सूक्ष्म से सूक्ष्म धरातल पर उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है ।"[48]

सेवा राम यात्री :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में से·रा· यात्री भी एक महत्वपूर्ण कथाकार है । इन्होंने अपनी कहानियों में कटु यथार्थ का चित्रण किया है । आज के जीवन में व्याप्त निराशा तथा अकुलाहट जो बदलते जीवन मूल्यों के कारण प्रभावी है, उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में ये सिद्धहस्त है ।

धब्बे, बोझ, यादों के स्तूप, दर्द के आइने, दर्द और गुबार, नीतिरक्षा, नदी प्यासी थी तथा अंधेरे का सैलाब आदि इनकी कहानियां है ।

ये मूलत: साठोतर कहानीकारों की श्रेणी में आने वाले कथाकार है । इनकी कहानियों में मूलत: मध्यवर्गीय नगरीय जीवन की समस्याओं को चित्रित किया गया है । जीवन और व्यक्ति की पूर्णता ही इनकी कहानियों का आधार है ।

डा॰ गंगा प्रसाद विमल :- स्वतंत्र भारत के सातवें दशक के कथाकार व कथा आलोचक के नाम से प्रसिद्ध पाने वालों में डा॰ गंगा प्रसाद विमल का नाम बहुत ही महत्वपूर्ण साबित हुआ है । उनकी कथाओं पर भी आलोचना का प्रभाव रहा है । यही कारण है कि वह बहुत ही सफल और प्रभावशाली सिद्ध हुई है ।

परिवेशगत वैषम्य, सम्बन्धों का बिखराव, वैयक्तिक स्वातंत्र्य की तलाश, मोहभंग, द्वंद्व, घुटन, संत्रास आदि से इनकी कथा की आधार शिला तैयार हुई है इसीलिए उनकी अधिकतर कहानियों में परिवेशगत विषमताओं को बहुत ही सटीक ढंग से दर्शाया गया है । उसका मरना, प्रश्न चिह्न तथा अतीत राग उनकी ऐसी ही कहानियां है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में हो रहे वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों के विघटन, आर्थिक मूल्यों के दुष्परिणाम, सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास तथा राजनैतिक मूल्यों के निवार्ण की इनकी कहानियों में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त

किया गया है । इसीलिए कोई शुरूआत में माँ-बेटी दोनों अनजान बन जाती है और नाटक अधूरा में आर्थिक तंगी के कारण नायिका बंदर का रोल लेने को भी तैयार हो जाती है । सन्नाटा में नैतिक मूल्यों का विराम हो जाता है ।

सन्नाटा, कोई शुरूआत, नाटक अधूरा, अतीत राग, होने से पहले, आवाजें, फिर भी आ रही थी, झूठ, किसी दिन के लिए, दूसरे का योग, सम्बन्ध, प्रेत, दूसरा चेहरा, शीर्षकहीन, वह आदमी, पुरानी कहानी के बीच, अपना मरना, एरीना, विध्वंस, अभिशाप, बीच की दरार, आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियां है ।

'समकालीन कहानी का रचना विधान' उनकी महत्वपूर्ण कृति है ।

बदीउज्जमा :- बदीउज्जमा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के महत्वपूर्ण कथाकारों की श्रेणी में पंक्तिबद्ध है । इन्होंने नगरीय जीवन की विडंबनाओं को अपनी कहानियों में दर्शाया है । इनकी कहानियों का लक्ष्य जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करना है । "बिना किसी पूर्वाग्रह के या प्रदर्शन के इनकी कहानियां तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य को इस कदर समेट लेती है कि अनायास ही पाठक के भीतर संवेदना जगाकर उसे अपनी सामाजिक स्थिति के विषय में सचेत करती है तथा विराट व्यापक जीवन सत्यों का परिचय देती है ।"[49] इसीलिए इनकी कहानियां अपने समय की यथार्थ का प्रतिबिंब

है । स्वातंत्र्योत्तर समाज में जिस कदर मानवीय संबंधों में बिखराव जारी है तथा जीवन मूल्य संक्रमित हो रहे है उन सब का प्रतिबिम्ब ही इनकी कथानक की विशेषता है ।

अनित्य और पूल टूटते हुए इनके कहानी संग्रह है । घर, मिटते साए, परदेसी, अंतिम इच्छा, मकबरे का आदमी, पूल टूटते हुए, दुर्ग, चौथा ब्राह्मण, असह्य क्षणों के बीच, क्रांति का सौदागर आदि इनकी विशिष्ट कहानियां है ।

सुधा अरोड़ा :- स्वातंत्र्योत्तर कहानी लेखिकाओं में सुधा अरोड़ा एक सशक्त हस्ताक्षर है । इनकी अधिकांश कहानियां नारी के द्वंद्व को लेकर लिखी गई है । "सुधा की कहानियों में एक ऐसी नारी चित्रित हुई है, जो परंपराओं के प्रति मोहग्रस्त नहीं है, विगलित जड़ संस्कारों का तिरस्कार करती है, पर वर्तमान जीवन परिस्थितियों में भी अपना सामंजस्य नहीं कर पाती । वह नारी न तो गरिमा मर्यादा पर आघात करना चाहती है न स्वीकारना।"[50]

सुधा अरोड़ा "के लिए कहानी महज एक दस्तावेज या राजनीतिक नेताओं की तरह भाषण देना नहीं है, इनमें बदहवासी, चीख, चिल्लाहट, रोना गाना है, लेकिन निर्मम सम्बन्धों की निर्मम अभिव्यक्ति है, जिसमें

व्यक्ति का मरना-जीना, विवाह तलाक आदि घटनाएं ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि स्वयं व्यक्ति महत्वपूर्ण है और उसके कई-कई चेहरे और प्रिय अनौपचारिक रिश्तों का फीकापन भी है । उन्हें इसलिए होती है जब अभिनय की सोच की मुद्रा में वैचारिक क्रांति, संकट बोध या मृत्यु और अकेलापन जैसे बड़-बड़े शब्दों को लेकर आज की कहानी पर प्रहार किये जाते है कि दर्शन, सोच या वक्तव्य तो शेष रह जाता है, वह सहजता नहीं । जो कहानी के मूल में होती है ।"[51]

उनकी कहानियों पर दृष्टिपात करने से यह कहा जा सकता है कि "उनकी कहानियां एक चित्र है, माध्यम है हमारी नृशंसता का, हमारे विश्वासघातों का, हमारे असत्य मुखौटों और घृणित कर्मों का । उनमें आक्रोश नहीं एक पैनापन है । परिवर्तन की अकुलाहट है, विसंगतियों पर प्रहार करने की बेचैनी है । सामाजिक सोद्देश्यता सुधा में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हुई है ।"[52]

बगैर तराशे हुए, एक सेंटीमेंटल डायरी की मौत, अविवाहित पृष्ठ, मरी हुई चीज, एक मैली सुबह, आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियां है ।

कामतानाथ :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकार में खासकर समांतर कहानी आंदोलन के प्रबल समर्थक कथाकार कामतानाथ का भी हिन्दी कहानी साहित्य में अपूर्व योगदान है । हिन्दी कहानी को नयी दिशा देने में उनके अथक प्रयासों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । वे भी जनवादी मूल्यों के चितेरे है । कहानी साहित्य को सामाजिकता के सन्दर्भ की ओर मोड़ने में उन्होंने सफल कथाकार की भूमिका निभायी है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मानव मूल्यों के टूटते, बदलते पक्षों को उन्होंने अपनी कहानी का आधार बनाया है । समाज के निम्न मध्यवर्गीय चेतना के वे प्रबल चितेरे है ।

संक्रमण, लड़के, दीवार, अपराजेय आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियां है ।

डा॰ माहेश्वर :- डा॰ माहेश्वर भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के आठवें दशक के कथाकारों की श्रेणी में आते है । इन्होंने भी कहानी को जनवादी स्वरों से सुसज्जित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । व्यापक सामाजिक संदर्भ में व्यक्ति की संवेदनाओं की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पक्षों का चित्रण इन्होंने अपनी कहानियों में किया है । खासकर संक्रमणशील समाज के युग सत्य को

उद्घाटित करना ही इनकी कहानी कला का उद्देश्य है । बदलते जीवन-मूल्य, बनते, बिगड़ते सामाजिक संबंध, नारी की स्थिति एवं परिवेश की सच्चाई से ही इनकी कहानी जुड़ी हुई है । कहा तो यह भी जा सकता है कि ये कहानी को प्रगतिशील साहित्य की दिशा में जोड़ने के पक्षधर है । अपना दुश्मन, सांप, कोई आग, बुलडाग, अजनबी, सुख,नायक; अनायक, पेशाब, शुरूआत, मंदू की वापसी आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानियां है ।

इब्राहिम शरीफ :- स्वातंत्र्योत्तर काल के आठवें दशक के हिन्दी कथा साहित्य को नयी दिशा देने वालों में कथाकार इब्राहिम शरीफ का भी नाम आता है । हिन्दी कहानी को फिर से प्रगतिशील पथ पर ले चलने के पक्षधरों में ये भी अग्रगण्य है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के समांतर कहानी आंदोलन से इनका संबंध रहा है । इनकी कहानियां वैयक्तिक मूल्यों के अतिरिक्त सामाजिक मूल्यों के प्रभाव में ज्यादा गतिशील है । निम्न-वर्गीय चेतना के चित्रण से इनकी कहानियां ओतप्रोत है ।

पूर्वाभास, कथाहीन, दिग्भ्रमित, मर्यादाहीन, इंतजार, जख्म, प्रलाप, मौत, गर्दिश के दिन, गणित, फैसले के बाद, जमीन का आखिरी टुकड़ा, आतिश, युगान्तर, ऊँचे आदमी, विक्रय, मरीचिका आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानियां है । इनमें अधिकांशत: वे आर्थिक मूल्यों की विसंगतियों को मुख्य मानकर बताना चाहते है कि मानव मूल्यों के विघटन में आर्थिक

मूल्यों की बहुत बड़ी भूमिका होती है । उनका मानना है कि मनुष्य का सर्वाधिक पतन या आत्मभ्रंश दरिद्रता में होता है । इस दरिद्रता के लिए शरीफ व्यवस्था को ही उत्तरदायी ठहराते हैं । उनकी कहानियां वर्तमान समाज के साम्प्रदायिक समस्याओं को भी चित्रित करने में सक्षम है । गर्दिश के दिन में वह हिन्दुओं की इस साम्प्रदायिकता पर भी प्रहार करते हैं कि वे स्वतंत्र भारत में भी मुसलमानों को अपने मकानों में नहीं रहने देते । अत: कहना चाहिए कि इब्राहिम शरीफ स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को यथार्थ वादी दिशा दिखाने में काफी सफल और सक्षम सिद्ध हुए है ।

आखिरी टुकड़ इनका कहानी संग्रह है ।

हिमांशु जोशी :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में जनवादी स्वरों के कथाकार हिमांशु जोशी भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । वर्तमान समाज के यथार्थ को प्रस्तुत करने में ये बिल्कुल माहिर कथाकार है । शिल्प की दृष्टि से भी इनकी कहानियां काफी सहज तथा महत्वपूर्ण है । "कहा जा सकता है कि नास्तोलजिया (अपने ही कस्बे में, अन्तराल आदि) के भाव से लेकर नारी जीवन के सामाजिक, आर्थिक, यौन शोषण एवं सतत संघर्ष को अभिव्यक्त करने वाली ये कहानियां अन्तत: राजनीतिक विडंबना की परत दर परत उघेड़ने का सार्थक लक्ष्य लेकर गतिशील है । इसीलिए समसामयिक

कथाकारों के ऐसे वर्ग में जो सामाजिक प्रतिबद्धता से प्रतिबद्ध है, हिमांशु जोशी निश्चय ही एक महत्वपूर्ण कथाकार सिद्ध होते है ।"[53]

आठवें दशक के महत्वपूर्ण कथाकारों में इनका नाम आता है । अन्तत:, रथचक्र, मनुष्य चिह्न, जलते हुए डैने इनके कहानी संग्रह है ।

जलते हुए डैने, कोई एक मशीहा, समुन्द्र और सूर्य के बीच, आदमी जमाने का, मनुष्य चिह्न, काला धुंआ, अन्तत:, लिखे हुए शब्द, वस्तुत: व्यवस्थागत विसंगतियों की कहानियां है । न जानना, किसी एक शहर में, होरी ई, एक समुन्द्र भी, किनारे से लोग, बरस बीत गया - मानवीय संबंधों और मूल्यों प्रदर्शित करने वाली कहानियां है । इसके अतिरिक्त नई बात, स्वभाव, अपने ही कस्बे में, अक्षांश, बूंद पानी आर्थिक, सामाजिक संघर्षों को व्यक्त करने वाली कहानियां है ।

निरूपमा सेवती :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को यथार्थवादी धरातल पर मोड़ने में कहानी लेखिकाओं में निरूपमा सेवती एक महत्वपूर्ण कथा लेखिका है । उनकी कहानियां वर्तमान सामाजिक यथार्थ को ही प्रस्तुत करती है । लेकिन वर्तमान सामाजिक स्थितियों में नारी संवेदनाओं में हो रहे हलचलों को यथारूप व्यक्त करना ही इनकी कथा की पृष्ठभूमि है । नारी के बदलते

बनते मूल्यों एवं संबंधों को इनकी कहानियां बहुत ही मार्मिक ढंग से व्यक्त करती है । प्रगतिशीलता के पथ पर हिन्दी कहानी को रास्ता तय करने में इनका भी योगदान है । ये भी जनवादी स्वरों के समर्थक लेखिका है तथा समाज के निम्न, दरिद्र, कूचले, शोषित वर्गों की संवेदनाओं को चित्रित करने में माहिर है ।

भीड़ में गुम, कच्चे मकान, आतंकबीज, खामोशी को पीते हुए इनके कहानी संग्रह है ।

सुनहरे देवदार, ठहरी हुई खरोंच, टुच्चा, खामोशी को पीते हुए, झूठ का सच, सबमें से एक, बदमुष्टि, तलफ्लाहट, माँ यह नौकरी छोड़ दो, समायोजन, संक्रमण, तलाश के बाद, चुनौती और स्वीकृति, चालाक, दंशित, किबाड़ भर रोशनी, कत्ल, फिर कभी, खण्डित, अनुकृति, शायद हाँ शायद नहीं, गुबार तथा सूर पंचशती आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियां है ।

मेहरून्निसा परवेज़ :- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी साहित्य में मेहरून्निसा परवेज़ भी यथार्थवादी लेखिका है । उनकी कहानियों में भी नारी मन के विभिन्न कोणों की तड़फड़ाहट व्यक्त हुई है । खासकर स्वतंत्र भारत में नारी की स्थिति का चित्रण उनकी कहानियों का स्वर है । जनवादी मूल्यों की

भी वह प्रबल समर्थक लेखिका है । अपने सामयिक संदर्भ में मानव मूल्यों की स्थिति को वे अपनी कहानी में बहुत ही सही ढंग से चित्रित करती है । सामाजिकता उनकी कहानियों की पृष्ठभूमि है ।

टहनियों पर धूप तथा गलत पुरूष आदि उनके कहानी संग्रह है । हत्या एक दोपहर की, खामोशी की आवाज, नंगी आखों वाला रेगिस्तान, बीच का दरवाजा, बीके हुए क्षण, साल की पहली रात, बंटवारे की फांस, मुंडेरों की दोपहर, गलत पुरूष आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानियाँ है ।

नमिता सिंह :- स्वातंत्र्योत्तर भारत में जनवादी कहानी आंदोलन से जुड़े हुए कथाकारों में नमिता सिंह का भी नाम बहुत ही महत्वपूर्ण है । वह अपने समय में मात्र रचनाकार ही रहकर नहीं रही बल्कि जनता के कष्टों और संघर्षो में भागीदार भी हुई है । अपनी कहानियों के द्वारा उसने सामाजिक मूल्यों की स्थापना पर प्रकाश डालने का कार्य किया है ।

समसामयिक यथार्थ ही उनकी कथा की आधारशिला साबित हुई है । व्यक्ति और समाज जिस परिवेश में जी रहा था, उसकी खामियों को भुगतने की विवश था, उसका सजीव चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों में किया है । इसीलिए हम देखते है कि उनकी कहानी नाले पार का आदमी, का मुकुल अपनी परिस्थितियों और आकांक्षाओं के बीच चलने वाले अर्न्तद्वंद्व को अंतिम

तक जीते रहता है । राजनैतिक अराजकताओं को चित्रित करने वाली कहानियां भी उनकी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इसीलिए तो ठहरा हुआ सवेरा कहानी तत्कालीन राजनैतिक अराजकपूर्ण परिवेश का स्पष्ट बोध कराने में सक्षम है । परिवेश की अराजकता का शिकार व्यक्ति किस प्रकार अपने वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों को ताक पर रख देता है; इसका उदाहरण हमें उनकी मुक्ति कहानी में प्राप्त होता है जहाँ रोज सहज मानवीय मूल्यों को त्याग कर अमानव बन जाता है । इसीलिए कहा जा सकता है कि नीमता सिंह की कहानियों में बदलते मूल्यों और प्रतिमानों की चेतनाहै तथा शक्तियों, संगठनों बनाम व्यक्ति के सम्पर्कों-सम्बंधों-अन्तर्विरोधों का अहसास कराने में ये सक्षम और सफल भी है ।

इनकी प्रमुख कहानियां है :- एक निर्णय, चेहरे, परतें, टूट जाने के बाद, खुले आकाश के नीचे, जमी हुई बर्फ, काले अंधेरे की मौत, लहरों के बीच, ममी, ठहरा हुआ सवेरा, मुक्ति, सन्नाटे से आगे तथा नाले पार का आदमी, आदि। खुले आकाश के नीचे, राजा का चौक तथा नील गाय की आँखें इनके कहानी संग्रह है ।

इन कथाकारों के अतिरिक्त स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों में निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, शैलेश मटियानी, रामदरश मिश्र, रामकुमार, नरेश मेहता, विजय मोहन सिंह, विजय चौहान, अन्विता अब्बी,

शेखर जोशी, सुरेश सिन्हा, गंगारत्न पाण्डेय, मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, रघुवीर सहाय, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, प्रभाकर माचवे, शिवानी, सोमावीरा, अनिता औलक, मधुकर सिंह, जवाहर सिंह, श्रवण कुमार, कुलभूषण, कुलदीप बग्गा, जगदीश चतुर्वेदी, नर्मदेश्वर, स्वदेश दीपक, संजीव, धर्मेन्द्र गुप्त, हृदयेश, जितेन्द्र भाटिया, जितेन्द्र ठाकुर, अशोक अग्रवाल, राजी सेठ, हृदयलानी, सतीश जमाली, दिनेश पालीवाल, हेतु भारद्वाज, बलवन्त, आशीष सिन्हा, अब्दुल बिस्मिल्लाह, अरूप प्रकाश, उदय प्रकाश, रमेश उपाध्याय, इसरायल, अजित पुष्कल, प्रदीप माण्डव, पंकज बिष्ट, असगर वजाहत, सुरेन्द्र अरोड़ा, नीरज सिंह, बलराम, सिद्धेश, कृष्णा अग्निहोत्री, संतोष वर्मा, दीप्ति खंडेलवाल, शान्ता सिन्हा, पृथ्वीराज मौंगा नवेन्दु तथा ममता कालिया आदि का भी नाम आता है जिन्होंने अपनी कहानियों में संक्रमण युग के मूल्यों की अभिव्यक्त किया है तथा मूल्य संक्रमण की स्थिति को चित्रित करने का प्रयास किया है । ये कथाकार स्वातंत्र्योत्तर भारत के विभिन्न कथा आन्दोलनों से जुड़े हुए है ।

संदर्भ सूची

1. नयी कहानी कथ्य और शिल्प, डा. सन्तबख्श सिंह, पृ. 113
2. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, कान्ता (अरोड़ा) मेहदीरत्ता, पृ. 175
3. समकालीन कहानी की भूमिका, डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ. 13
4. नयी कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृ. 51, 52
5. हिन्दी कहानी, डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ. 110
6. कमलेश्वर की कहानियों में सामाजिक चेतना (लेख), दिवेश ठाकुर, कमलेश्वर, मधुकर सिंह (संपादक) पृ. 172
7. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी, कथ्य और शिल्प, एक सर्वेक्षण, डा. शिवशंकर पाण्डेय, पृ. 193
8. हिन्दी कहानी, डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ. 20
9. आज के साए, मोहन राकेश, पृ. 33
10. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प एक सर्वेक्षण, डा. शिवशंकर पाण्डेय, पृ. 188
11. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प एक सर्वेक्षण, डा. शिवशंकर पाण्डेय, पृ. 188
12. आलोचना और साहित्य, डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ. 146
13. कुछ नये कहानीकारों की कहानियां (लेख), धनंजय वर्मा, नयी कहानी संन्दर्भ और प्रकृति, देवी शंकर अवस्थी (सं.), पृ. 190-91
14. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन (आलोचना), डा. भैरूलाल गर्ग, पृ. 117

15· अमरकांत पर कुछ जरूरी नोट्स (लेख), यदुनाथ सिंह, अमरकांत के कृतित्व एवं व्यक्तित्व की पड़ताल, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, नरेश सक्सेना (सं·), पृ· 239

16· आज की हिन्दी कहानी, प्रगति और प्रयोग (लेख), इन्द्रनाथ मदान, नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना सुरेन्द्र (सं·), पृ·186-87

17· हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, कान्ता (अरोड़ा) मेंहदीरत्ता, पृ·120

18· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन, डा· भैरूलाल गर्ग, पृ· 134

19· हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, डा· रमेश चन्द्र लवानिया, पृ·235

20· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शि[illegible], एक सर्वेक्षण, डा· शिवशंकर पाण्डेय, पृ· 198

21· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी, कथ्य और शिल्प, एक सर्वेक्षण, डा· शिवशंकर पाण्डेय, पृ· 196

22· द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा· लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ·

23· नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति, डा· देवीशंकर अवस्थी, पृ· 143

24· कर्मनाशा की हार, शिवप्रसाद सिंह, पृ· 6

25· हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, डा· रमेशचन्द्र लवानियां, पृ·242

26· द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा·लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ·

27· नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति, सं· देवीशंकर अवस्थी,पृ· 108

28· द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा· लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ· 191

29· नयी कहानी, कथ्य और शिल्प, डा· सन्तबख्श सिंह, पृ·

30· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प, एक सर्वेक्षण, पृ·205

31· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी, कथ्य और शिल्प,एक सर्वेक्षण, पृ· 205

32· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी,कथ्य और शिल्प,एक सर्वेक्षण,डा·शिवशंकर पाण्डेय, पृ· 205

33· सातवें दशक की हिन्दी कहानियां, शरद देवड़ा (सं·),पृ· 271

34· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प, एक सर्वेक्षण, डा· शिव शंकर पाण्डेय, पृ· 208

35· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प,एक सर्वेक्षण, डा·शिवशंकर पाण्डेय, पृ· 207

36· नई कहानी, सुरेश सेठ, पहला अंक, जून-1977,पृ· 257

37· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी,कथ्य और शिल्प,एक सर्वेक्षण, डा·शिवशंकर पाण्डेय, पृ· 210

38· आधुनिक कहानी और परिपार्श्व, डा· लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,पृ·152

39· नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना,सं· सुरेन्द्र, पृ· 325

40· हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, कांता(अरोड़ा) मेंहदीरत्ता,पृ· 193

41· हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, कांता(अरोड़ा) मेहदीरत्ता, पृ·192

42· नई कहानी, पहला अंक,जून-1977, सुरेश, पृ· 247

43· युग परिबोध, जनवरी-मई 77, सुबह का डर अनुभववाद की सीमाएं, सुधीश पचौरी

44· हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, कांता(अरोड़ा) मेहदीरत्ता, पृ·136

45· द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा· लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ·

46· नई कहानी कथ्य और शिल्प, डा· सन्तबख्श सिंह, पृ·

47· आलोचना, जुलाई-सितंबर 74, परिवेश संस्कार और संवेदना (लेख) रमेशचन्द्र शाह, पृ· सं· 73

48· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन (आलोचना), डा· भैरूलाल गर्ग, पृ· 150

49· हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, कांता(अरोड़ा) मेहदीरत्ता,पृ·135

50· हिन्दी कहानी,उद्भव और विकास,डा·सुरेश सिन्हा,पृ·

51· बगैर तराशे हुए फ्लैप से,

52· स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन,डा·भैरूलाल,पृ·161

53· हिन्दी कहानी : समकालीन परिदृश्य, डा· सुखवीर सिंह, पृ· 142

चतुर्थ अध्याय

सन् 1960 से 1980 तक की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त आर्थिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

सन् 1960 ई॰ से 1980 तक की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण ।

हम जानते हैं कि साहित्य का आविर्भाव समाज में ही होता है तथा किसी न किसी रूप में सामाजिक संवेदना साहित्यकार की कला-निपुणता से साहित्य में अभिव्यक्त होती ही है । साहित्य की विभिन्न विधाओं में कहानी विधा भी आधुनिक साहित्य में अपनी जगह बनाने में सक्षम है और अन्य विधाओं की अपेक्षा आधुनिक युग में युगीन संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में अधिक सफल भी सिद्ध हुई है । स्वतंत्रतापूर्व की हिन्दी कहानियों में भी मूल्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया रही है । सामाजिक सन्दर्भ के अनुसार स्वतंत्रतापूर्व युग में जैसे-जैसे मूल्य रहे हैं, कमोवेश, कहानी विधा में भी उसी अनुकूल मूल्याभिव्यक्ति हुआ है ।

स्वतंत्रता के बाद तो हिन्दुस्तान के समाज में काफी उथल-पुथल हुआ है । जितने भी पुराने रीति-रिवाज, प्रथाएं, परम्पराएं एवं आचरण और संस्कारों के पुराने मानक बने हुए मानव मूल्य हमारे समाज में विद्यमान थे, सभी में बदलाव आना शुरू हुआ । कुछ मानव मूल्य तो बिल्कुल नकार दिये जाने लगे तथा कुछ में परिवर्तन होना शुरू हुआ । इसीलिए नए सन्दर्भ में हम पाते हैं कि समाज में कुछ नए मानव मूल्यों का भी आविष्कार हुआ है । यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं था । बल्कि, समाज में इसकी गति पहले से बरकरार थी । हाँ, स्वातंत्र्योत्तर भारत में कुछ विशेष घटनाएं विचारधाराएं और परिस्थितियाँ ही इस रूप में प्रबल हो उठी कि यह परिवर्तन की प्रक्रिया

तेज हो गई । फलत: पारंपरिक मूल्य टूटने लगे, नए मूल्य उभरे और समाज में मूल्य संक्रमण की स्थिति प्रबलतर दिखाई देने लगी । 1960 ई॰ के आसपास से तो हिन्दुस्तान के हर क्षेत्र में संक्रमण की प्रक्रिया प्रबल रूप में दिखाई देने लगती है । चाहे वह सामाजिक,आर्थिक क्षेत्र हो या राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक परिवेश, सभी में काफी उथल-पुथल हुआहै । पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से औद्योगीकरण ने न केवल महानगरीय समाज को प्रभावित किया बल्कि उसके प्रभाव से ग्रामीण समाज के स्वरूप में भी काफी परिवर्तन हुआ । व्यक्ति की चेतना मशीनी सभ्यता में सामाजिकता को कम मगर वैयक्तिकता को बहुत ही ज्यादा महत्वपूर्ण मानने को विवश हुई । श्रमिकों का शोषण बढ़ने लगा । पूंजीपतियों का साम्राज्य शक्तिशाली होने लगा । इसके दुष्परिणाम स्वरूप ही समाज में अफसरशाही, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, सामाजिक असम्बद्धता, अंधा अनुशासन, कुव्यवस्था, गरीबी, बेरोजगारी, लूट-पाट, साम्प्रदायिकता तथा अपराधधर्मिता जैसी जटिल समस्याएं तीव्रगति से बढ़नी शुरू हुई । फलत: व्यक्ति ऊब, घुटन,संत्रास,द्वन्द्व से दबकर लिजलिजी भरी जहालत की जिन्दगी जीने को मजबूर हो गया । सामाजिक सम्बंधों में दरारें बढ़नी शुरू हुई क्योंकि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के प्रभाव से व्यक्ति में अजनबीपन जैसी प्रवृत्तियों का असर हुआ । माँ-बेटी, पिता-पुत्र, भाई- भाई , भाई-बहन,सखा-सम्बंधी पति-पत्नी, एवं स्त्री-पुरुष आदि जैसे पारिवारिक और सामाजिक सम्बंधों का विघटन होना शुरू हुआ । इस तरह तमाम क्षेत्रों में हमें बदलाव व

टूट-फूट का दृश्य देखने को मिलता है । आधुनिक सभ्यता, जिसे पाश्चात्य सभ्यता का "वॉयप्राडक्ट" भी कहा जा सकता है, ने व्यक्ति की सामाजिकता को, उसकी आदमीयत को छीनना शुरू किया । फल-स्वरूप, मनुष्य का जीवन पशुवत हो गया । सरकार अप्रभावी साबित हुई । कानून-व्यवस्था गड़बड़ हो गई क्योंकि " स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजनीति धीरे-धीरे राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन से छँटकर व्यक्ति-गत योगक्षेम और स्वार्थपरता के पंक में लिप्त होने लगी, और यह राजनीति उन नेताओं से शुरू हुई जिन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के समय त्याग किया था । और अब स्वदेशी सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर थे । लगता था जैसे वे अपने सारे त्याग का फल व्याज सहित पा लेना चाहते हैं । स्वाधीन सरकार से आशा थी ; जैसा कि नेहरू जी ने कभी घोषित किया था ; कि स्वाधीनता संग्राम के समय गद्दारी करने वाले अफसरों को चौराहे पर फाँसी लगा देगी, किन्तु स्वाधीन सरकार की मशीनरी भी उन्हीं अफसरों और पुलिस से चलती रही । व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति तभी संभव हो सकती है जब अपना दल सत्ता में हो । लोकतांत्रिक पद्धति की सरकार तो बनी और उसके लिए चुनाव पद्धति स्वीकार की गयी किन्तु प्रत्येक दल सत्ता प्राप्त करने के प्रयास में चुनाव के समय पैसा पद, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि बुराइयों का खुलकर उपयोग करने लगा ।"[1]

स्वाभाविक है कि ऐसे परिवेश में व्यक्ति के मूल्यों का विघटन

हो और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आए । वस्तुत: सही में ऐसा ही हुआ है । इसीलिए हम देखते हैं कि स्वतंत्र भारत में सन् 1960 ई॰ से सन् 1980 तक का यही दृश्य रहा है । पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हमारा समाज शिक्षित हुआ और अपने "स्व" को पहचानने की तलाश में हर जोड़-तोड़ को स्वीकारने लगा । इसी का परिणाम हुआ कि समाज में तर्क पूर्ण दृष्टिकोण, आर्थिक प्रगति के प्रयत्न, मानवतावाद, कर्तव्य परायणता और सामाजिक न्याय जैसे कई नए मानव मूल्यों का स्वर भी सुनायी देने लगा । कुल मिलाकर यह मूल्य संक्रमण का दौर रहा है इसीलिए, सन् 1960 से सन् 1980 तक के भारतीय समाज में मूल्य संक्रमण की स्थिति को साहित्यकारों ने भी संवेदनात्मक स्तर पर अपने साहित्य में चित्रित किया है ।

कहानी भी इसमें पीछे नहीं रही तभी तो सविता जैन लिखती हैं कि " आज साहित्य के सन्दर्भ में स्वीकृत जीवन-मूल्यों की समसामयिकता पर्याप्त चर्चा का विषय बनी हुई है । अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव के फलस्वरूप आज प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यवरण की स्वतंत्रता पर बल दिया जा रहा है । वस्तुत: ज्यों-ज्यों व्यक्ति की मौलिक चिंतन शक्ति का विकास होता जाता है वह परंपरा से चले आ रहे जड़ मूल्यों को छोड़ता जाता है और उसके स्थान पर नवीन मूल्यों का निर्माण करता है । आधुनिक युग में विज्ञान के विकास के फलस्वरूप मनुष्य में तार्किक बुद्धि का उदय हुआ और

उसने परंपरागत जीवन मूल्यों का अंधानुकरण करने के स्थान पर उन्हें तर्क की कसौटी पर कसना आरम्भ किया । इस तार्किक दृष्टिकोण ने अनेक परंपरागत नवीन मूल्यों के सम्मुख एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया ।

मूल्य विघटन का यह स्वर आज के युग की प्रत्येक विधा में सुना जा सकता है किन्तु कथा साहित्य युग चेतना की व्यापक अभिव्यक्ति होने के कारण जीवन के अनेक अनुभवों को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम रहा है । समसामयिक हिन्दी कहानी में भी परंपरागत जीवन मूल्यों के विघटन एवं नवीन जीवन मूल्यों के उदय के फलस्वरूप उत्पन्न टकराहट की गूंज सुनायी देती है ।"[2] अत: सन् 1960 से सन् 1980 तक की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में भी इसीलिए हम तत्कालीन जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति एवं मूल्य संक्रमण की अनुगूंज पाते हैं ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक व सामाजिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण

जैसा कि हम पाते हैं कि स्वतंत्रता पूर्व वाले हमारे समाज में कमोवेश मानव मूल्यों में विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसे तत्कालीन साहित्यकारों ने अपने साहित्य में अभिव्यक्त भी किया है । मूल्य संक्रमण का बीजवपन भी कहा जाए तो स्वतंत्रता पूर्व के भारत में ही शुरू हो गया था । राजनीति के क्षेत्र में देशीपन व विदेशीपन की टकराहट थी तो सामाजिक क्षेत्र में सामन्तवाद और महाजनी सभ्यता का संघर्ष था । धार्मिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में भी पुराने एवं नए आचरण व्यवहार एवं मूल्यों का द्वंद्व था । इसी तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी पद्य-गद्य, प्रगति प्रयोग, नई कविता अकविता, कहानी नयी कहानी, अकहानी आदि के बीच भी खींचातानी देखने को मिलता है । यही कारण है कि साहित्यिक परिवेश में हम पाते हैं कि स्वतंत्रतापूर्व तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के आसपास के भारत में निराला, प्रसाद प्रेमचंद, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नागार्जुन एवं अन्य रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में इन मूल्य विघटन व मूल्य वरण तथा मूल्य संक्रमण को विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न ढंग से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब अपने लोगों द्वारा ही अपने देश व समाज को नई दिशा देने का संकल्प लिया गया तो देशवासियों

में उम्मीद जगी कि कुछ ही दिनों में सब कुछ ठीक-ठाक हो जायेगा । लेकिन नगरीकरण व आधुनिकीकरण के नाम पर कहने को तो देश व समाज काफी आधुनिक घोषित हो गया पर सुरसा के मुँह के समान पैलती भ्रष्टाचार , शोषण, अराजकता तथा दमनात्मक प्रवृत्ति जैसी समस्याओं ने देश व समाज को बेकारी, आर्थिक विषमता, अनुशासनहीनता, स्वार्थपरकता तथा मंहगाई के शिकंजे में कसकर जकड़ लिया । परिणामस्वरूप हर क्षेत्र में मूल्य संक्रमण उभरकर दिखाई पड़ने लगा ।

व्यक्ति अब अगर प्राचीन वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों को मानने को तैयार नहीं था तो नए उभरते मूल्यों को पूर्णतः अपनाने को भी विवश नहीं था । उसके सामने मूल्य संक्रमण की स्थिति थी जिसमें स्वयं उसकी वैयक्तिकता अँधेरी गलियों में भटकने लगी थी । इन स्थितियों से भला कलाकार या रचनाकार, जो तत्कालीन समाज का सजग प्रहरी बना हुआ था कैसे अपने मुँह को छिपाए अपनी जुबान और अभिव्यक्ति सामर्थ्य को बंद करता । फलतः उन्होंने भी इस मूल्य संक्रमण की स्थिति को अपनी कला व रचना में अभिव्यक्त किया । कहानीकार भी भला कहाँ चुप रह सकते थे । इसीलिए तत्कालीन कहानीकारों ने भी अपनी कहानियों में मूल्य संक्रमण को विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है । आलोच्यकालीन समाज में विशेषकर सन 1960 के बाद तो वैयक्तिक व सामाजिक

मूल्यों का काफी विघटन हुआ है जिसको कहानीकारों ने अपनी कहानियों में दर्शाया है । अत: सन् 1960 से सन् 1970 की कहानियों में हम वैयक्तिक मूल्यों के विघटन, वरण तथा संक्रमण का ही अभिव्यक्ति अधिक पाते हैं । मगर परिस्थिति एवं परिवेश से आक्रांत जीवन में सामाजिकता का विरोध ज्यादा दिन नहीं टिक सका और तभी सन् 1970 के आसपास से सामाजिक मूल्य विघटन वरण और संक्रमण का स्वर उठना शुरू होता है । यह दीगर बात है कि यह सामाजिकता का स्वर ज्यादा प्रबल नहीं दिखता मगर मानव मूल्य के विकास में यह सहायक अवश्य सिद्ध हो सकता है । वैयक्तिक मूल्यों और सामाजिक मूल्यों का अगर अध्ययन किया जाय तो दोनों में ज्यादा कुछ अंतर नहीं दिखता है । बल्कि कहा जा सकता है कि दोनों की पृष्ठभूमि और आधारशिला भी एक ही है ।

समाजशास्त्रिय आधार पर वैयक्तिक मूल्य ही सामाजिक मूल्य बन जाते हैं क्योंकि व्यक्तियों के सामूहिक सम्बंधों से ही समाज का स्वरूप बनता है । अत: वैयक्तिक मूल्य भी सामाजिक मूल्य हो सकता है । समाज के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हम पाते हैं कि भिन्न-भिन्न काल एवं परिवेश में वैयक्तिक मूल्य कभी सामाजिक मूल्य बन गया है तो कभी सामाजिक मूल्य वैयक्तिक मूल्य बन गया है । नहीं तो क्या कारण है कि मार्क्स फ्रायड और सार्त्र आदि के आचार-विचार, व्यवहार और मूल्य एक समय सामाजिक हो गया जो कभी उसके लिए वैयक्तिक मूल्य था । असल में

वैयक्तिक मूल्य को सामाजिक मूल्यों की आधारशिला कहा जा सकता है जैसे मानव समाज की ईकाई है वैसे ही वैयक्तिक मूल्य सामाजिक मूल्यों की ईकाई की आधारशिला है ये एक दूसरे के सहयोगी और पूरक हैं ।

सामान्यतौर पर वैयक्तिक मूल्य में व्यक्ति प्रतिमान होता है तथा व्यक्ति समाज के केन्द्र में होता है । जबकि सामाजिक मूल्य का प्रतिमान समाज होता है और इसमें सामूहिक निगमन, समाज की संस्कृति और सभ्यता, समाज के अतीत और भविष्य की सीमाओं में व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के जीवन के अधिकतम विकास की संभावनाओं का अन्वेषण, संकेतन और अभिव्यक्ति होता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि दोनों ही मूल्य प्रकारांतर से सामाजिक जीवन से सम्बंध होने के कारण एक ही होते हैं । क्योंकि व्यक्तिवादी मूल्य भी समाज से पूर्णत: निरपेक्ष नहीं हो सकता तथा सामाजिक मूल्य भी पूर्णत: व्यक्ति निरपेक्ष नहीं हो सकता। हाँ यह स्वीकारणीय है कि कभी-कभी अति वैयक्तिकता से समाज को क्षति हो सकती है और अति सामाजिकता से व्यक्ति का सत्यानाश भी हो सकता है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों मे भी सन्दर्भगत सन् 1960 से 1970 तक वैयक्तिक मूल्यों का ही बोलबाला होता है और संदर्भगत परिस्थिति व परिवेश के स्थान से 1970 के बाद सामाजिक मूल्यों का उद्‌बोध किसी न किसी रूप में अवश्य दिखाई देता है । हाँ यह दीगर बात है कि आलोच्यकालीन कहानियों में हर जगह कहीं वैयक्तिकता तो कहीं

सामाजिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया गया है क्योंकि दोनों मूल्य प्रकारोत्तर से एक ही है ।

स्वतंत्रयोत्तर भारत में 1960 से 1980 तक के काल में नगरीकरण व औद्योगीकरण के कारण तर्कपूर्ण दृष्टिकोण को बढ़ावा मिला । पुराने मिथकों को नजर अंदाज किया जाने लगा तथा मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया जाने लगा । फलस्वरूप व्यक्तिवादी चेतना का व्यापक विकास हुआ । " इस व्यक्ति की उपलब्धि में धार्मिक आंदोलनों एवं सुधारकों, संस्थाओं का विशेष हाथ था, जिससे ईश्वर की मध्यस्थता समाप्त हो गयी और व्यक्ति प्रमुख हो गया । परिणामत: व्यक्ति ने स्वयं आत्मिक सत्ता के रूप में अपनी चेतना को स्थापित कर लिया और भौतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातांत्रिक आधारभूमि पर स्थापित करने की दलील दी ।"[3]

इसीलिए हम पाते हैं कि व्यक्ति की चेतना सामूहिकता के नियमन से टकराना शुरू करती है जिससे उसके अंदर विरोध की छटपटाहट शुरू होती है । व्यक्ति का अपने को समाज से अलग मानना ही उसे उसके "स्व" से अलग हटने का तथा उपेक्षित हो जाने का अहसास कराती है और वह अजनबीपन, घुटन, संत्रास, अन्तर्विरोध आदि से संबंधित मूल्यों के दबाव में जीने को मजबुर हो जाता है ।

अजनबीपन, संत्रास, घुटन, अर्न्तविरोध तथा द्वन्द्व सामंजी मूल्य और मूल्य संक्रमण

हम देखते हैं कि व्यक्ति यांत्रिकता और शहरीकरण के प्रभाव में सामाजिक रूढ़ मूल्यों का बहिष्कार करने लगता है जिसमें वह अजनबीपन संत्रास, घुटन, मृत्युबोध, अर्न्तविरोध, द्वन्द्व, कुंठा आदि प्रवृत्तियों का शिकार होता है । तत्कालीन कहानियों में हम पाते हैं कि व्यक्ति जब अजनबीपन का शिकार होता है तथा समाज की जटिलताओं में जकड़कर सही सुरक्षा, पहचान और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तलाश में भटकता है तो स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देने से वंचित हो जाता है ।

रमेश बक्षी की कहानी "उत्तर" और "पिता दर पिता" में इसी को अभिव्यक्त किया गया है । "उत्तर" कहानी के कथानायक से ही घोर व्यक्तिवादिता के कारण नायक के बेकार, उलझलुल मानसिकता का पता चलता है । नायक कहता है " पिता का मैंने विरोध किया था क्योंकि वे सरासर दकियानूस थे लेकिन पुत्र में वे ही सब बातें देखकर भी मैं उसका विरोध नहीं कर पाया । होता यही है कि मैं उसकी तरफ देखता हूँ । तो देखता ही रहता हूँ । राजू के साथ रहने की प्रक्रिया में मैं अपनी जड़ता में से अलग छूटने लगा था लेकिन राजू के ही अकेलेपन ने मेरी ताकत चौपट कर दी । महीने भर बाद जब पत्नि का खत आया कि राजू कैसा है तो

विचलित हो गया था । मैं खुद देख रहा था कि मेरे निर्णय को पाला मार गया है । उससे सम्बंध विच्छेद का तर्कपूर्ण निर्णय भी डिगता है तो या तो मैं नपुंसक हूँ या गधा हूँ ।"[4] यहाँ हम पाते हैं कि व्यक्तिवादी नायक पत्नि के जाने का कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करता है बल्कि अपने हित में ही सारे तर्क देता है । वह प्राकृतिक नियमों की भी अवहेलना करता है । सात वर्षीय पुत्र में उसकी माँ की प्रतिच्छाया उसके मुख से निकली कोई भी बात, वह सहन नहीं कर पाता है । बल्कि अपने पुत्र में अपने आपको ही अधिक से अधिक देखना चाहता है । कम उम्र में भी अपने पुत्र को शराब पीते देखकर वह सहज ही रहता है । यहाँ वह प्राचीन वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों को नकारता दिखाई देता है और नए स्वार्थपरक वैयक्तिक मूल्य, जो ना तो उसके लिए ना ही उसके पुत्र के लिए उचित है- को झेलने की विवश है । जाहिर है कि यह मूल्य संक्रमण की स्थिति ही है जिसे इस कहानी में अभिव्यक्त किया गया है ।

महेन्द्र भल्ला के " एक पति के नोट्स "में भी इसी तरह का मूल्य अभिव्यक्त हुआ है । दूधनाथ सिंह की कहानी " रक्तपात " में पत्नि, माँ और पति के बीच व्यक्ति पूर्णतः असम्बद्ध नहीं हो पाता है । पति यौन सम्बंध में असमर्थ है तो पत्नि से त्रस्त है । पत्नि, पति की प्रतिक्रियाहीनता और माँ की स्थिति से असम्बध होने की इच्छा से हिंसक हो जाती है और इसका परिणाम होता है माँ का रक्तपात और मृत्यु । ऐसे वैयक्तिक

मूल्यों से ही व्यक्ति समेत समाज का ह्रास संभव है । "खोई हुई दिशाएँ" (कमलेश्वर) और " एक और जिन्दगी " (मोहन राकेश) में भी नायक न स्वयं को पहचानता है और ना ही अन्य किसी दूसरे को ही तरजीह देता है । इसमें व्यक्ति के ऊब, व्यर्थताबोध तथा अजनबीपन को ही अभिव्यक्ति मिली है ।

कृष्ण बलदेव वैद की कहानी " अजनबी" में तो अजनबीयत को बड़े ही सटीक ढंग से व्यक्त किया गया है । कहानी में नायक हमेशा अजनबीयत को महसूस करता है । वह सोचता है --" दो अजनबी लोग आपस में न जाने कैसे बात की शुरुआत करते हैं ? कहने को मैं बीसियों बातें कह सकता था -- मौसम के बारे में, उस शाम के नाच के बारे में, उसका नाम पूछ सकता था, अपना नाम बता सकता था, पियानो पर बैठे हुए उस लम्बे बालों वाले आदमी के बारे में कुछ कह सकता था, जो बैठे-बैठे यूँ ही बीच-बीच में हाथ चला रहा था, जैसे टाईप करना सीख रहा हो, लेकिन जिसके संगीत से मुझे रंगीन बुलबुले का भ्रम हुआ था । कहने को बीसियों बातें थी और सब की सब बेकार । मैंने खामोश रहने का फैसला किया और साथ ही यूँ ही उसके साथ वहाँ तक घिसट आने के पश्चाताप के अनुभव को व्हिस्की के साथ पी लिया । मैं बहुत तेजी से पी रहा था, और मेरी सोच और खीज में एक अस्वाभाविक तीव्रता आती जा रही थी । मैंने अपने आप को रोकने की कोशिश की और वेट्रेस जब मेरा गिलास उठाने

आई, तो अनावश्यक स्खेपन से उससे कहा : अभी मुझे और कुछ नहीं चाहिए । उसका गिलास खाली नहीं हुआ था और वह अब फिर मुस्करा रही थी न जाने किस बात पर । अब की बार मुझे उसकी मुस्कराहट बहुत बुरी लगी, और मैंने सिगरेट का एक गहरा कश लेते हुए महसूस किया कि मुझसे ज्यादा बेवकूफ इंसान दुनियाभर में कोई न होगा । अपने इस अद्वितीयता पर एक कसैली हँसी आई । " [5]

यह अजनबीपन मात्र कहानी के नायक की ही नहीं है बल्कि उस परिवेश में जी रहे व्यक्ति की है जिस परिवेश और काल सन्दर्भ से यह कहानी जुड़ी है । इसीतरह, रवीन्द्र कालिया की कहानी "अकहानी " में " सारे पात्र अपनी पहचान की खोज में बस चले जा रहे हैं । इनका कोई व्यक्तित्व नहीं है । इनके सारे संभाषण बेईमानी से भरे और बेतुके से लगते हैं । बस गुजरना है, इसलिए गुजर रहे हैं । आज का व्यक्ति जीवन-व्यक्तित्व की तलाश में है, पर उसे अपना व्यक्तित्व नहीं मिल रहा है। जीवन की निरुद्देश्यता को ढोता हुआ वह व्यक्ति बिना किसी कारण के एक-दूसरे की गतिविधि को चर्चा का विषय बना रहा है और इस प्रकार किसी तरह समय बिताना चाहता है । इस कहानी के दो लड़के यूँ ही घूमते रहते हैं । जब भूख लगती है तब उन्हें पता चलता है कि उन्हें खाना खाना है और उस समय सारी फालतू बातें समाप्त हो जाती है । विषय और शैली में कटा-कटा सा भाव स्पष्ट झलकता है । " [6]

इस कहानी में भी व्यक्ति के अजनबीपन, घुटन, द्वन्द्व और अन्तर्विरोध से सम्बंधित मूल्यों की अभिव्यक्त किया गया है । स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्यक्ति यांत्रिकी सभ्यता के शिकार में भयभीत दीखता है । महानगरीय जीवन में सर्वत्र संत्रास, मृत्युबोध और भयाक्रांत की स्थिति बलवती दिखाई देती है । महीप सिंह की कहानी "पारदर्शक" में इसी भयाक्रांत स्थितियों का चित्रण मिलता है । इसमें दिखाया गया है कि व्यक्ति के लिए ऐक्सीडेन्ट से होने वाली मृत्यु कोई खास उत्तेजना का कारण नहीं बनती - वह मात्र क्षणभर को ठिठकता है और फिर अपनी दिनचर्या में लिप्त हो जाता है । इसके साथ ही व्यक्ति के मन में मृत्युबोध का भय मँडराते रहता है । इसीलिए "युद्धमन " (महीप सिंह) में भी कोहली साहब को भय आंतरिक स्तर पर आतंकित करता है इसका कारण है कि उसका पूरा परिवार - चार बेटे, तीन दामाद, बहन के दो लड़के, शरण के मामा का एक लड़का और एक दामाद कुछ और रिश्तेदार इसी मोर्चे पर जा रहे हैं, किसी की भी मृत्यु उन्हें किसी भी क्षण एक उल्कापात की तरह अखबार के कालमों में अथवा किसी टेलीग्राम के द्वारा दबोच सकती है ।

कमलेश्वर की कहानी " युद्ध" में भी भय के शिकंजे में जकड़े व्यक्ति को चित्रित किया गया है । इसके अतिरिक्त कामता नाथ की "उसका बच्चा" हृदयेश के " परतों के बीच", गंगा प्रसाद विमल की " आवाजें अब भी आ रही हैं " देवेन्द्र इस्सर की " मुर्दाघर" तथा दुधनाथ सिंह की

"रक्तपात" आदि में भी व्यक्ति के व्यथा, घुटन, भय, त्रास, द्वन्द्व, अन्तर्विरोध और मृत्युबोध को चित्रित किया गया है । इनमें पारस्परिक मानव मूल्यों के विघटन को ही व्यक्त किया गया है क्योंकि इन कहानियों में दर्शाया गया है कि व्यक्ति अपने पारंपरिक परोपकारिता, सहयोग सप्रेम, भाई - चारा, सामाजिक सम्बद्धता और स्वतंत्रता जैसे मानवीय मूल्यों को भूल गया है । वह यांत्रिक सभ्यता के थपेड़े को नहीं सह पाया है । स्वतंत्र भारत के भौतिकतावादी परिवेश में व्यक्ति गुलाम सादृश मजबूर जीवन जीने की बाध्य हुआ है । इसका उदाहरण दूधनाथ सिंह की कहानी " सपाट चेहरे वाला आदमी " में मिलता है जहां नायक एक रसता का शिकार हुआ है ।

कहानी में नायक जिन्दगी के रहस्य को जानना चाहता है वह कहता है " मुझे उस उत्साह से भी उब हो गई । कहीं कुछ ऐसा था जिसकी चाह में मुझे सब कुछ निरर्थक लगने लगा । मेरे आगे - पीछे जो सुख का रहस्य जाल था, वह और टांपता गया मुझे । मैनें कहा " इससे क्या होगा ?" फिर मैंने अपनी नोटबुक बन्द कर दी । वह निरसता मेरे चारो ओर लिपट गई । मैंने कहा - इस तरह जीवित रहने का अर्थ ? इस सुख में, जो कहीं किसी के निमित्त हो भी, अपने को कुछ नहीं देगा " जैसे मैंने खुद जीवन का गला घोट दिया और अपनी इस क्षमतापर शेखी बघारता हुआ सड़कों- नदियों और समुद्रों के वक्ष पर खेलता रहा । जीने के लिए क्या था ? क्या

नहीं था? यही था वह रहस्य जाल । वह पीड़ा, जो सुख नामी है । वह मारक व्यवस्था, जिसका नाम नहीं है कि मैं क्यों जिन्दा हूँ । मैंने सोचा शायद मुझे कोई मानसिक रोग है । मैंने वेद से लेकर कामसूत्र तक पढ़ डाला । "ओल्ड टेस्टामेंट" से लेकर मोरावियां की " द वुमन आव रोम " तक । मीनाक्षी और पूरी से लेकर खजुराहो तक देख डाला । मनोविज्ञान के एक - एक सिद्धांत पर अपने को घिसता रहा । अन्त में हार गया । उत्तर मुझे नहीं मिला ।"[7] इस तरह, हम देखते हैं कि कहानी में नायक को नीरसता ही, हाथ लगता है । वह अजनबीपन और शून्यता को झेलता है । " बिरादरी बाहर", "सिलसिला" और "टूटना" (राजेन्द्र यादव) जैसी कहानियों में भी यही नीरसता उब, द्वन्द्व एकाकीपन, टूटन और घुटन को अभिव्यक्त किया गया है ।

शहरीकरण से मशीनीभूत हुए जीवन में पिसता हुआ व्यक्ति सामाजिक सम्बद्धता को भूल जाता है तभी तो श्रवण कुमार की "बालाक" में संस्कारों की सामाजिक अर्न्तसम्बद्धता मात्र मानसिक होकर रह जाती है और व्यावहारिक स्तर पर वह हिसाबी साबित होता है । कहानी में मैं को पत्नि बताती है कि लाईन के पार बहुत देर से एक लाश पड़ी है । लोग उसके पास से गुजरते हैं मगर कोई रूकता नहीं । अपनी दिनचर्या को निभाते हुए नायक में सहानुभूति उत्पन्न होता है पर अपने पड़ोसियों, साथियों में जैसे उसे लेशमात्र की मानवीय संस्कार नहीं दिखता । वे लोग मुसीबत में

में फँसने के डर से लाश को लाश मानने से भी इंकार कर जाते हैं । लाश तक जाने का इरादा भी वे टाल जाते हैं । यही नहीं दुर्घटना में मरना या हत्या इतना सामान्य समझा गया है कि डाक्टर के भी आदर्श या मानवीय मूल्य हवा हो जाते हैं । डाक्टर कहता है - " किस-किस को बचाते रहेंगे आप ? अब ये तो आए दिन की वारदातें हैं ।"[8]

नगरीय जहालत की जिंदगी ने व्यक्ति को इतना मूल्यहीन कर दिया है कि वह अपने पालक, रक्षक और रक्त सम्बंधी को भी महत्वहीन समझने को विवश हो जाता है । इसीलिए तो मेहरून्निसा परवेज की कहानी " एक सैलाब और " में नीलू अपने पति की बीमारी में तीन बच्चों की जिम्मेदारी न सह सकने के कारण तथा आर्थिक कठिनाई के कारण इतनी थक जाती है कि वह अपने पति को नींद की गोलियाँ देकर हमेशा-हमेशा के लिए सुलाने को विवश हो जाती है । इसी तरह "पिता" (ज्ञानरंजन) तथा " बिरादरी बाहर " (राजेन्द्र यादव) में पिता बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है । " चीफ की दावत" (भीष्म साहनी) में माँ को बेकार समझ छिपा दिया जाता है और " ठेका" (विष्णु प्रभाकर) में पत्नि, पति के द्वारा ठेके लिए इस्तेमाल की जाती है ।" पितृऋण" (रमेश पक्षी) में तो पति, पत्नि और माँ तीनों पूर्णतः एक दूसरे के लिए अजनबी हो जाते है । ज्ञानरंजन की कहानी " शेष होते हुए" में भी परिवार के सभी बड़े- छोटे सदस्य एक दूसरे से बचना चाहते हैं और प्रत्येक

प्राणी अपने-अपने घेरे में सिमटे हुआ है । जाहिर है कि उन कहानियों में स्वतंत्रता के बाद खासकर साठोत्तरी भारत का व्यक्ति अपनी तंग स्थिति में प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों को तोड़ने के लिए तत्पर दीखते हैं । व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के प्रति तटस्थ नहीं दिखता है बल्कि उसमें स्वतंत्र देश के एक नागरिक की सम्पूर्ण महत्वाकांक्षाएं तथा हर नई स्थिति से जुड़ने की आकांक्षा विद्यमान है । वैयक्तिकस्वातंत्र्य की तलाश में वह छटपटाता हुआ दिखता है ।

आलोच्यकालीन कहानियों में इसको सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है तभी तो हम पाते हैं कि "अंगारों के खेल " (राजेन्द्र यादव) में नायिका कहती है -" जब हम अपने विषय में सोचने विचारने को स्वतंत्र नहीं हैं तो स्वतंत्र है किस बात में ? अब हम लोग समझदार हो गए हैं । आखिर भविष्य हमारा है । क्यों नहीं हमें समय दिया जाता है कि हम उसे समझें, उसका सदुपयोग करें ? हमें अपनी चीज पर हमारा अधिकार है । उसे नष्ट करना - चाहे नष्टकर्ता कोई हो - हम नहीं सहन कर सकते ।" [9]

हम देखते हैं कि वैयक्तिक स्वातंत्र्य की तलाश में भटकता हुआ व्यक्ति " अपने सजग अस्तित्वबोध के कारण परंपरागत आदर्शों के बारे में, प्रश्न करने लगा । परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही नये भारत में जीवनगत आस्था के दो स्पष्ट स्वरूप दिखाई देने लगे । एक वह था जो पुराने आदर्शों, मूल्यों

और रूढ़ियों के साथ पूरी सच्चाई के साथ जुड़ा हुआ था और उससे न मुक्त होना चाहता था न मुक्त होने की बात ही सोच सकता था । दूसरा वर्ग सभ्यता के नये उपकरणों को स्वीकार करने के साथ-साथ समस्त प्राचीन रूढ़ियों और अंधविश्वासों को समाप्त करके नये जीवन को अपनाने की बात करता था । इस प्रकार प्राचीन भारतीय मूल्यों और आधुनिक मूल्यों में एक व्याप्त टकराहट दिखाई देने लगी ।"[10]

पारिवारिक सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण :

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सन् 1960 ई॰ से सन् 1980 तक के काल में परम्परागत सामाजिक मान्यताओं एवं मूल्यों का काफी बहिष्कार हुआ है । प्राचीन सामाजिक मूल्यों को जमकर नकारा गया । फलस्वरूप प्राचीन धर्म परायणता, वर्ण एवं जाति व्यवस्था अव्यावहारिकसिद्ध होने लगी । परिवार का स्वरूप ही नहीं बल्कि, पारिवारिक स्नेह, श्रद्धा, सेवाभाव प्रेम एवं सहयोग का काफी ह्रास हुआ ।

इसीलिए आलोच्यकालीन समाज में पिता पुत्र को इसलिए रखना चाहता है कि वह वृद्धावस्था में उसकी सेवा कर सके । पुत्र पिता की

सेवा करे या वृद्धावस्था में उसे घर से निकाल बाहर करे, यह उसकी इच्छा की बात रह गयी । सभी नैतिक मूल्यों को अस्वीकार किया जाने लगा। इसीलिए, " स्वातंत्र्योत्तर भारत एक नवीन परिवर्तित रूप में हमारे सामने आता है जहाँ एक ओर परम्परा से चले आ रहे संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा था दूसरी ओर सामाजिक पारिवारिक सम्बंधों के परम्पराबद्ध रूप में परिवर्तन आ रहा था । परम्परा से विच्छिन्न होकर तथा सभी प्राचीन मानव सम्बंधों के मोहपाश से मुक्त होकर आज का व्यक्ति आत्म केन्द्रित होता जा रहा है । यहाँ तक कि पिता-पुत्र, माँ- बेटी, पति-पत्नि या भाई-बहन जैसे निकटतम सम्बंधों में भी एक अजनबीपन समाता जा रहा है । जो एक दूसरे को पास रहते हुए भी बहुत दूर कर देता है । स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज का यह महत्वपूर्ण परिवर्तन था और इसने समसामयिक कहानीकारों को बहुतअधिक आकर्षित किया ।"[11]

यही कारण है कि हम पाते हैं कि ज्ञान रंजन की कहानी "शेष होते हुए " में परिवार के सभी बड़े-छोटे सदस्य एक दूसरे से बचना चाहते हैं और अपने अपने घेरे में सिमटे हुए हैं । " मंझले ने देखा, एक ही घर में कई घर हो गए हैं । हर व्यक्ति के कमरे में एक दूसरे से अलग एक स्वतंत्र और पृथकता ज्ञापित करने वाला स्वभाव है । निजी व्यवस्था की प्रवृत्ति कुछ लोगों में छोटे पैमाने पर अन्दर ही अन्दर प्रयत्नशील है । ऊपर आने वाले कमरे में टीनू ने एक आलमारी में शीशे की रकाबियाँ, गिलास, प्याले और

स्टोव भी छोड़ रखा है । उसके दोस्त वहीं चाय पीते हैं । भाभी का कमरा गुदड़ी बाजार है, लेकिन दैनिक उपयोग में आने वाली सबसे नयी , सुन्दर और पेशानेबुल चीजें उन्हीं के कमरे में है । प्रसाधन सामाग्रियों की जैसी सुन्दर भाभी के कमरे में व्याप्त रहती है, वैसी कहीं नहीं होते ।

बरामदे के पार्टीशन में तारा का स्लीपिंग - कम- स्टडी रूम बन गया है । साफ-सुथरा ।..... उसका कमरा घर का हिस्सा कम छात्रा-वास अधिक मालूम होता है । यूनिवर्सिटी जाते समय वह पार्टीशन डोर पर एक छोटा सा ताला दबा देना नहीं भूलती ।..... माँ-पिता के कमरे में कुछ नहीं है । उनके लिए किसी को फुर्सत नहीं । स्वयं उन लोगों को भी अपने लिए कुछ आवश्यक लगता हैपता नहीं । पिता द्वारा लायी जाने वाली या उनके नाम पर आने वाली चीजें भैया-भाभी टीनू और तारा के बीच बँट जाती है ।" [12]

इस कहानी से जाहिर होता है कि पारंपरिक,पारिवारिक व सामाजिक मूल्यों का लोप हो गया है । इसीलिए ज्ञानरंजन की कहानी "पिता" और उषा प्रियंवदा की कहानी " वापसी" में भी पारंपरिक परिवार के आधार स्तम्भ माने जाने वाले, महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायित्व भरे व्यक्तित्व पिता का अस्तित्व को सिमटा हुआ दर्शाया गया है । दोनों कहानियों

में पिता अजनबी बन जाता है । रमेशचन्द्र की कहानी "पितृऋण" में तो पति-पत्नि और माँ पूर्णत: एक दूसरे से अजनबी बने दिखते हैं । क्योंकि कहानी में "माँ घर को हल्का नहीं होने देती थी । दूसरी ओर पत्नि जब भी मेरे पास आती मैं बाहर चला जाता था । रात को जब तक वह सो न जाए मैं पढ़ता रहता था और अगर वह पढ़ने लगे तो मैं इस तरह सो जाता था, जैसे बड़ी नींद आ रही हो । पिता के मरने के बाद से माँ का एक अलग लोक बन गया था । एक बार चाय पीते मैंने देखा कि इस घर में तीन दीवारें हैं। मैंने कभी सास बहू को , पति-पत्नि को, माँ बेटे को साथ देखा ही नहीं, जबकि मैं पति भीथा और बेटा भी ।"[13]

कहानी के उपरोक्त अंश से मूल्य विघटन को अभिव्यक्त किया गया है । भीष्म साहनी की "चीफ की दावत " राजेन्द्र यादव की " विहादरी बाहर "," जहाँ लक्ष्मी कैद है", कमलेश्वर की " दुनियाँ बहुत बड़ी है", रेणु की " विघटन के क्षण," तथा मन्नू भंडारी की "अँधाई" आदि कहानियों में भी पारिवारिक-सामाजिक मूल्यों के विघटन एवं संक्रमण को अभिव्यक्त किया गया है ।

पिता-पुत्र सम्बंध से सम्बंधित मूल्य और मूल्य संक्रमण :

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर भारत में संयुक्त परिवार के विघटन

से पुरानी और नयी पीढ़ी के सदस्यों के बीच मूल्यों को लेकर संघर्ष की स्थिति होती है । " विरादरी बाहर " (राजेन्द्र यादव) भी एक ऐसे ही परिवार की कहानी है जिसमें पिता परम्परागत जीवन मूल्यों के प्रति अपने मोह के कारण ही स्वयं को परिवार से बिल्कुल कटा हुआ पाता है । आज नयी पीढ़ी के व्यक्ति के लिए प्राचीन मूल्यों का उल्लंघन कोई विशिष्ट घटना नहीं है किन्तु पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति के लिए जीवन में वही घटना उथल-पुथल मचा देती है । विरादरी बाहर का पिता अपनी पुत्री के विजातीय विवाह सम्बंध को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर पाता और इसलिए वह सारी नयी पीढ़ी के प्रति एक आक्रोश से भर उठता है । पहले भी परम्परागत मूल्यों का विरोध करने वाले को विरादरी से बाहर कर दिया जाता था किन्तु आज परिवर्तनशील समाज में परंपरागत मूल्यों का समर्थन करनेवाला व्यक्ति स्वयं को बिरादरी से बाहर अनुभव करता है । हमारे देखते-देखते ऐसे न जाने कितने पिता बिरादरी से बाहर हो गए । यह कहानी भी सिर्फ एक व्यक्ति की कहानी नहीं है अपितु उस समूची पुरानी पीढ़ी की कहानी है जो अभी तक प्राचीन जीवन मूल्यों से चिपटा हुआ है और परिवार में अपना एक छत्र शासन देखने की इच्छा में बिरादरी से बाहर हो जाता है ।" [14]

इसीलिए "पिता" (ज्ञानरंजन) में " लड़को द्वारा बाजार से लाई

बिस्किटें मँहगे फल पिता कुछ भी नहीं लेते । कभी लेते भी हैं तो बहुत नाक भौं सिकोड़कर उसके बेस्वाद होने पर जोर देते हुए । अपनी अमावट, गजक और दाल रोटी के अलावा दूसरों द्वारा लाई गई चीजों की श्रेष्ठता से वह कभी प्रभावित नहीं होते । वह अपना हाथ, पाँव जानते हैं, अपना अर्जन और उसी में उन्हें संतोष है, वे पुत्र, जो पिता के लिए कुल्लु का सेब मँगाने और दिल्ली एम्पोरियम से बढ़िया धोती मँगाकर उन्हें पहनाने का उत्साह रखते थे, अब तेजी से एण्टी फादर होते जा रहे हैं ।" [15]

"वापसी" (उषा प्रियंवदा) में अवकाश प्राप्त करते ही परिवार के स्वामी का प्रभुत्व समाप्त हो जाता है । यही नहीं " पिता-दर-पिता (रमेश बक्षी) में तो पिता के भय और आतंक ने युवापुत्र में घृणा एवं विरोध पैदा कर दिया है । इसीलिए पुत्र को कहना पड़ता है कि " अपने देश में तो बाप होवा है । मतलब समझी न एनी कि बाप का नाम सामने आते ही रूह कब्ज हो जाती है । " [16] " मेरे पिता ने मुझे बधिया कर दिया था । ..... याद आता है मेरे पिता ने मेरी आजाद तबियत को देखकर कहा था मेरी ईच्छा के खिलाफ गये तो टांग तोड़ दूँगा । मेरी पत्नि के पिता ने कहा था इतना आसान नहीं है मुकदमें की गिरफ्त से निकल भागना ।..... मेरी प्रेमिका के पिता ने कहा था -- कुत्ते की औलाद, तेरा खून कर दूँगा . .....। ये कौन है - ये अलग-अलग नहीं है

कोई एक ही पिता है जो मुझे धमकी दिए जा रहा है । उस दशरथ के लिए अपना वचन बड़ा हो गया था और अपना पुत्र छोटा ..... मैं भी पुत्र के रूप में जब अपने को देखता हूँ और अपने पिता के कारण खंडहरों में बैठे अपने अकेले भविष्य की जब तस्वीर सामने आती है तो इतना बूढ़ा हो जाने पर भी एक ही बात होती है कि किसी पिता की हत्या कर दूँ ।"[17]

अत: जाहिर है कि पीढ़ियों के अन्तराल से अनेक विषमताओं, विडम्बनाओं और विचार प्रणालियों के परिणाम से पारिवारिक व सामाजिक मूल्य संक्रमित हो रहे थे जिसे आलोच्यकालीन कहानियों में अभिव्यक्ति मिला है ।

पिता-पुत्री सम्बंध एवं विवाह सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण :

स्वातंत्र्योत्तर भारत में नयी पीढ़ी के लिए पुराने सम्बंधों प्रथा परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं मूल्यों आदर्शों का बंधन ज्यादा महत्व-पूर्ण सिद्ध नहीं हुआ बल्कि नए सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन के साथ सारे सम्बंधों, मूल्यों एवं आदर्शों में बदलाव आया । पिता-पुत्री का सम्बंध भी पौराणिक नहीं रह सका तथा वैवाहिक रीति-रिवाज एवं संस्कार भी यथावत नहीं रहे ।

नयी पीढ़ी के लोग पुराने मूल्यों एवं रीति-रिवाजों को ज्यों का त्यों वरण करने को तैयार नहीं थे । इसीलिए तो हम पाते हैं कि जहां लक्ष्मी कैद है " (राजेन्द्र यादव) की पुत्री लक्ष्मी अपने पिता के कृत्यों से विवाह से वंचित रहती है तो धिक्कार करने को मजबुर हो जाती है । वह अपने पिता से कहती है " तो तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग .....।""पिपिड़या " (राजेन्द्र अवस्थी) में भी सुरजीत सिंह की इकलौती पुत्री जसबीर ने एक दिन रात को देर से एक विजातीय युवक के साथ घर लौटकर पिता को अपने विवाह की सूचना दी तो पिता सुरजित थोड़ी देर के लिए क्रोध में भला-बुरा भी कहता है मगर तुरन्त नौकर से बोल भी देता है कि " खाना लगा तीन थालियाँ ।" जाहिर है यहाँ मूल्य संक्रमण को ही अभिव्यक्त किया गया है क्योंकि सुरजीत सिंह अपने पुराने मूल्यों के कारण भला बुरा भी कहता है और नये मूल्यों के प्रभाव से तीन थालियाँ लगाने की भी बात करता है । यही नहीं "कील " (महीप सिंह) में भी पिता के पुत्री के विवाह नहीं कराने से पुत्री स्वयं ही सुरेश नामक युवक से बगैर पिता की अनुमति के विवाह कर लेती है। वह पुराने मूल्यों को अस्वीकार करती है इसीलिए पिता की अनुमति को महत्वहीन समझती है । " सिर्फ एक आदमी " (मेहरून्निसा परवेज) में लोभी कंजुस और सनकी स्वभाव वाले पिता के कारण युवती पुत्रियाँ कुँवारी रहने और

घुटन भरा जीवन जीने को विवश होती है । इसीलिए, अपनी पीड़ा घुटन और पिता की कैद से मुक्ति की ललक में सुमि कहती है - अतुल ! क्या तुम बप्पा की मौत तक इंतजार नहीं कर सकते ? जिस दिन बप्पा मरेंगे मैं तुम्हारे पास चली आऊँगी ।"

भाई-बहन सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण :

आर्थिक स्थितियाँ मनुष्य को कभी बड़ा तो कभी छोटा बना देती है । बढ़ते औद्योगीकरण एवं नगरीकरण से स्वतंत्र भारत में आर्थिक सम्पन्नता और भी निर्णायक सिद्ध हुई । इसके कारण भी सम्बंधों में बदलाव आना शुरू हुआ । अब माँ-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन,स्त्री-पुरूष सभी की श्रेष्ठता आर्थिक सम्पन्नता से सिद्ध होने लगी । सम्बंधों के बीच दरारें पड़नी शुरू हुई । न केवल पिता-पुत्र, पति- पत्नि और माँ-बेटे या माँ - बेटी जैसे संबंधों के बीच खाई उत्पन्न हुआ बल्कि पौराणिक प्रेम सम्पन्न सौहार्द्रपूर्ण भाई-बहनों का सम्बंध भी झूठा और महत्वहीन होने लगा । " जिंदगी और गुलाब के फूल" में भाई-बहन के बीच रक्षा बन्धन जैसा नाता अर्थहीन होकर रह गया ।क्योंकि भाई के लिए "सबसे अधिक आश्चर्य उसे वृन्दा पर था ।..... वही वृन्दा है, जो उसके आगे पीछे घूमा करती थी ।..... और अब ? एक रात जरा देर से आने पर उसने सुना । वृन्दा बिगड़ कर माँ से कह रही थी काम न

धंधा तब भी दादा से यह नहीं होता कि खाना वक्त पर खा ले, तुम कब तक जाड़े में बैठोगी माँ ? उठाकर रखदो अपने आप खा लेंगे ।"[18]

इसीलिए समाज के बदलते परिवेश में भाई अपने पौराणिक आदर्शों और मूल्यों को भूल जाता है तभी तो "फोकस" (महीप सिंह) में बहन के फिल्म अभिनेत्री बन जाने तथा उसकी बाजार में बढ़ती कीमत होने से भी भाई को अच्छा लगता है और उसका स्नेह बरकरार रहता है । बहन के रोमांस की झूठी सच्ची खबरें उसे सहज ही बनाए रखता है । बल्कि, विजनेस की खातिर घटिया से घटिया पब्लिसीटी करवाने के लिए भाई उत्सुक रहता है । वह आराम से कहता है --" रानी की दो-एक फिल्में हिट हो जाएँ तो हम यह मकान बदल लें ।"[19] यहाँ जाहिर है कि भाई-बहन का वह प्राचीन आदर्श और मूल्यों को टूटता हुआ दिखाया गया है । भाई-बहन के सम्बंधों के टूटने तक ही नहीं अब तो साला- बहनोई का सम्बंध जनित मूल्य भी ढाक के तीन पात साबित हो रहे हैं जिन्हें कमलेश्वर ने " आसक्ति " कहानी में दर्शाया है ।

इस कहानी में पूर्व के भाई-बहन के बीच जो आसक्ति और जुड़ाव रहता है । वह भाई के ठोकर और बहन पर आश्रित होने के बावजूद भी था ।

मगर बहन, सुजाता के पति होते ही यह सम्बंध टूटने लगता है । अब भाई-बहन , साला-बहनोई के सम्बंधों के बीच मानसिक तनाव घर कर जाता है । इसलिए बहन भी भाई के प्रति आसक्त नहीं रह पाती है ।

पति-पत्नि सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण :

आलोच्यकालीन स्वतंत्र भारत के समाज में भी पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन से पति और पत्नि का वह पुराना रिश्ता नहीं रह सका जिसमें, अग्नि और ब्राह्मणों की साक्ष्यों में, जाति के कुछ सदस्यों की उपस्थिति में सात फेरे खाकर पति के साथ जन्म-जन्मान्तर के लिए वह रहने को विवश होती थी तथा पति अच्छा हो या बुरा, झुल्मी हो या दयालु, शराबी हो या जुआरी, पत्नि के साथ ईमानदार हो या नहीं, मगर सामाजिक मूल्यों के अनुसार पति हमेशा श्रेष्ठ हुआ करता था और पत्नि इस स्थिति में उसके साथ रहने को मजबुर थी । मगर सामाजिक परिवर्तन के साथ पति का वह प्रभावशाली एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व बेकार साबित होने लगा । इसीलिए गिरिराज किशोर की कहानी " फ्रॉक वाला घोड़ा और निकर वाला साईस " का क्लर्क पति अपने डिप्टीसेक्रेटरी के रुतबे वाली पत्नि के सामने प्रभुत्वहीन एवं कमजोर दिखता है और उषा प्रियंवदा की कहानी " मोहभंग " का पति राजन सोचने को विवश हो जाता है कि " अब मैं सिर्फ वह व्यक्ति हूँ जो उसे शान शौकत में रख सकता है मेरा

काम तो बस, उसके नाम आए, लम्बे बिल चुकाना है । मैं उसके जीवन में गौण हो गया हूँ ।"[20]

यही नहीं बदले हुए सन्दर्भ में अब पति का पत्नि के प्रति दृष्टि-कोण भी काफी बदल गया है । इसीलिए " ठेका"(विष्णु प्रभाकर) में पति स्वयं अपनी पत्नि को ढील देना चाहता है । वह अपने प्राचीन मूल्यों से जुड़ा रहना चाहता है क्योंकि वह सोचता है " स्त्री आखिर स्त्री है उसे ढील चाहे जितनी दो पर रस्सी अपने ही हाथ में रखनी चाहिए ।"[21]

मगर नये मूल्यों के प्रभाववश वह ऐसा नहीं कर पाता है । पत्नि के सहारे जब उसे एक बड़ा ठेका मिलता है तो वह बहुत खुश हो जाता है उसपर न्यौछावर हो जाता है जबकि पहले वह अपने पत्नि की स्वतंत्रता के विरुद्ध था और उसके पुरुषों के बीच स्वतंत्र विचरण पर उसे काफी चिढ़ थी । लेकिन ठेका मिलने पर उसका सारा क्रोध शांत हो जाता है जबकि " वह जानता है कि संतोष बड़ी सामाजिक है । खूब मिलती जुलती है । सरकारी विभाग के प्रमुख कर्मचारियों से उसकी रब्त-जब्त है । इसका प्रारंभ उसी ने तो कराया था । नहीं तो वह इतनी लजीली थी कि उसके सामने भी नयन नहीं उठाती थी ।"[22]

जाहिर है कि प्रस्तुत कहानी के द्वारा मूल्य संक्रमण को अभिव्यक्त किया गया है क्योंकि पति के सामने प्राचीन और नवीन मूल्यों के बीच असमंजता की स्थिति है । महीप सिंह की कहानी " घिरे हुए क्षण " में तो पति अपने नौकरी पेशेवाली पत्नि का साथ अत्यंत भावुक क्षणों में भी नहीं प्राप्त कर पाता है । उसके शरीर से अनेक व्यक्तियों का बोध होने पर भी वह उसे निर्पेक्ष भाव से झेलने को विवश होता है अनेक स्थितियों में वह अपने आपको पति के अधिकार से वंचित पाता है । इसके अलावा उसका विकल्प भी नहीं है । इस तरह कहानी से व्यक्त होता है कि आर्थिक सम्पन्नता पति या पत्नि की श्रेष्ठता सिद्ध करती है और पुराने मूल्य को तोड़ने में सहायक होती है । राजेन्द्र यादव की कहानी " टूटना" में भी इसी को दर्शाया गया है । महीप सिंह की कहानी " काला बाप - गोरा बाप " का कथानक भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त करता है जिसमें पारंपरिक प्रेम व सम्बद्धता नहीं रह पाता है । पत्नि जमीला परित्यक्ता है । उसका पति उसको दो बच्चियों के साथ छोड़कर दूसरा विवाह कर लिया है । जमीला का सहारा अनवर हो जाता है । दोनों लड़कियाँ फिल्म में काम करने लगती है । अनवर से जमीला को एक पुत्र समेत धन और वैभव भी प्राप्त हुआ है । जमीला को अपने पूर्व पति यूनुस के प्रति भी कोमल भाव छिपा रहता है । भावनात्मक स्तर पर वह इसे नकार नहीं सकती है । यूनुस फटेहाली में बूढ़ा होने पर

वर्षों बाद उससे मिलता है तो आर्थिक विषमता के कारण वह उसे स्वीकार नहीं पाती है । बल्कि, " यूनुस की नजर ने कहा मुझे पंजाब मेल मिल सकती है । जमीला की नजर ने कहा तुम्हें पंजाब मेल मिल सकती है ।"[23]

यहाँ दोनों अपने वर्षों से टूटे सम्बंध को मौन भाव से स्वीकार कर लेता है जिससे मूल्य विघटन ही व्यक्त होता है । यही मूल्य विघटन की स्थिति मन्नू भंडारी की कहानी " तीसरा आदमी " में भी व्यक्त हुआ है जहाँ पति सतीश जब अपनी पत्नि को मातृत्व प्रदान नहीं कर सकता है तो उसकी पत्नि तीसरा आदमी को विकल्प बनाने में कोई बुरा नहीं मानती और ना ही पाप-पुण्य की बात सोचती है । यह ध्यातव्य है कि मूल्य विघटन मात्र महानगरीय या शहरी जीवन तक ही सीमित नहीं था बल्कि कस्बाई और ग्रामीण जीवन में भी यह प्रक्रिया देखने को मिलती है तभी तो मन्नू भंडारी की "नशा" में शंकर जैसा पति शराब पीने के लिए अपनी पत्नि की गाढ़ी कमाई को लेने के लिए छीना झपटी करता है और अपने ग्रामीण पत्नि को मार पीटकर भी पैसे लेकर शराब पीता है ।

अब समाज में पति-पत्नि को भी तीसरा आदमी बुरा या निंदनीय नहीं लगता था बल्कि दाम्पत्य जीवन को स्वतंत्र रूप में भी जीने के लिए पति-पत्नि तत्पर रहता था । इसीलिए तो मन्नू भंडारी की कहानी "अँधेरा " में पत्नि मानती है कि यदि परिस्थितिवश कुछ क्षणों के लिए

वह किसी पुरुष को अपना शरीर देती है तब भी उसके जीवन की जिस ऊँचाई पर उसके पति का स्थान है वहाँ कोई नहीं आ सकता । इसलिए वह इस स्थिति में पवित्रता-अपवित्रता की बात नहीं सोचती बल्कि वह दृढ़ता से कहती है कि " यदि वैवाहिक सम्बंधों का आधार इतना छिछला है इतना कमजोर है कि एक हल्के झटके को भी सम्भाल नहीं सकता तो सचमुच उसे टूट जाना चाहिए ।"[24] जाहिर है यहाँ पारंपरिक मूल्यों के विध्वंश को ही व्यक्त किया गया है तथा नए मूल्यों की स्वीकृति के स्वर को भी दर्शाया गया है ।

स्त्री-पुरुष सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण :

हम देखते हैं कि आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में नारी के जीवन में काफी परिवर्तन आया है । " एक ओर जहाँ परिवार का परम्परागत स्वरूप टूटा, वहीं दूसरी ओर स्त्री स्वतंत्रता के कारण नव-युवक स्त्रियों के स्वरूप में परिवर्तन आया । जो स्त्रियाँ आजीविका के साधन स्वयं जुटाती थी, उनकी मानसिकता में धीरे-धीरे व्यापक परिवर्तन आया और इस प्रकार उन्होंने जीवन और चिंतन के स्तर पर पुरुषों के समान ही स्वयं को प्रस्तुत करने की कोशिश की । स्वातंत्र्योत्तर नारी के इस नये रूप को लेकर नये कहानीकारों ने अनेक कहानियाँ लिखी, जिनमें पारिवारिक

विघटन से लेकर नारी के इस नये अहं पोषित स्वरूप तक का चित्रण किया गया ।"[25] स्वातंत्र्योत्तर भारत में " नारी और पुरूष अपनी-अपनी जगह पूर्णत्व की खोज में प्रयत्नशील है, किन्तु खोज की हर दिशा उनके व्यक्तित्वों को खंडित कर रही है । इस खोज में आधुनिक नारी के कई चित्र उभर रहे हैं । परम्परागत वर्जनाओं से आधुनिक नारी जैसे-जैसे मुक्त हो रही है, नवीन समस्याओं का सामना करने लगी है । आर्थिक स्वावलंबिता और मानसिक स्वतंत्रता के कारण वह अपने जीवन को अच्छा या बुरा बनाने के लिए स्वतंत्र है । किन्तु इस आत्मनिर्भरता का यह मतलब नहीं कि वह बिना पुरूष के सम्पर्क के जीवन व्यतीत कर सकती है । पुरूष के साथ रहना उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है चाहे वह परम्परागत पत्नि धर्म का निर्वाहन करती हो ।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे कई विपरीत स्थितियों का सामना करना पड़ता है । विचित्र बात यह है कि आधुनिक स्त्री, चाहे कितनी ही स्वतंत्र हो अब भी पुरूष संस्कार से आक्रांत है । इसका एक कारण शायद यह है कि हजारों वर्षों की परंपरा से पुरूष संस्कार का प्रभाव स्त्री के मानसिक संगठन का हिस्सा बनकर रह गया है । इस मानसिक गुलामी से मुक्ति पाना इतनी जल्दी संभव भी नहीं है । इसका कारण यह है कि "पुरूष अब भी स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व का हिमायती होकर भी, स्त्री को पुरूष संस्कार से मुक्त नहीं होने देता ।"[26]

इसीलिए आलोच्यकालीन भारतीय समाज में हमें नारी संबंधी मूल्य संक्रमण की स्थिति का नजारा देखने को मिलता है जिसे तत्कालीन कहानियों में व्यक्त किया गया है ।

परिवर्तित स्त्री दृष्टिकोण के चलते ही अब जहाँ "लक्ष्मी कैद है" की लक्ष्मी कैद होकर घुट-घुट कर मरना नहीं चाहती और नाही अपने वैयक्तित्व "अँधाई " के लिए किसी तीसरे पुरुष को अपवित्र या अवरोध (मन्नु भंडारी) मानने के पक्ष में है । इसलिए तो "कितनी कैदें " (मृदुला गर्ग) में पत्नि का अतीत पति - पत्नि के बीच आ जाता है तो दोनों जीवनधारा के अलग-अलग किनारे बड़े सहज भाव से हो जाते हैं । अत: उपरोक्त कहानियों में हम पाते हैं कि " अपने पूर्ण व्यक्तित्व की खोज में नारी कई बार ऐसे विविध बिन्दुओं पर आकर रुक जाती है, जहाँ उसके लिए यह फैसला करना कठिन हो जाता है कि उसका मार्ग किस दिशा को जाता है । आधुनिक नारी अब उस पारंपरिक पत्नित्वबोध से मुक्त हो गई है जिसमें केवल पतिव्रता धर्म ही उसके जीवन का प्रमुख स्वर था । अब वह पति और प्रेमी इन दोनों में से वैसे कोई भेद नहीं करती । पति के होते हुए किसी पर पुरुष से प्रेम करना उसके लिए पतिव्रता भंग नहीं है । यौन मुक्ति जहाँ जीवन की आवश्यकता है वहाँ एक ही पुरुष के साथ सारी जिंदगी बिताने में क्या स्वार्थ है । किन्तु ऐसी स्थितियों में आधुनिक नारी एक अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करती है और

अनिश्चितता की यातनाओं को भोगती हुई, उसी निर्णय पर पहुँच जाती है जो निर्णय उसका अपना होता है, उसकी अन्तर्आत्मा का होता है। मन्नू भंडारी की " यही सच है " तथा " उँचाई " कहानी आधुनिक नारी के उक्त अन्तर्द्वन्द्व को और उसके स्वाभाविक निर्णय को व्यंजित करती है क्यों कि एक साथ अब नारी न तो पुरुषों के आधिपत्य को झेलने को तैयार है ना ही उन आधिपत्य को पूर्णत: नकारने को तैयार ।" [27] इस परिस्थिति में नारी संबंधित पुराने मूल्यों और नए मूल्यों के बीच टकराव की स्थिति है जिसे आलोच्यकालीन कहानी में अभिव्यक्ति मिला है।

"सुहागिने " (मोहन राकेश), " आकाश के आईने में ", (मन्नू भंडारी), "कोशी का घटवार " (शेखर जोशी) " नन्हों " एवं "धरातल" (शिव प्रसाद सिंह), "लौटते हुए" एवं " प्रतीक्षा" (राजेन्द्र यादव) आदि कहानियों में इसी मूल्य संक्रमण को दर्शाया गया है।

"एक कमजोर लड़की की कहानी " (राजेन्द्र यादव) में तो नारी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को तलाशती है मगर माता-पिता, परिवार और अंत में पति के संस्कारों से दबी वह लड़की कमजोर होकर अपने प्रेमी के साथ नहीं हो सकती है। " कील " (महीप सिंह) में भी मीना को अपने पिता का अत्यधिक प्यार तथा हर समय पिता का साथ ठीक नहीं

अनिश्चितता की यातनाओं को भोगती हुई, उसी निर्णय पर पहुँच जाती है जो निर्णय उसका अपना होता है, उसकी अन्तर्आत्मा का होता है । मन्नू भंडारी की " यही सच है " तथा " अँधाई " कहानी आधुनिक नारी के उक्त अन्तर्द्वन्द्व को और उसके स्वाभाविक निर्णय को व्यंजित करती है क्यों कि एक साथ अब नारी न तो पुरुषों के आधिपत्य को झेलने को तैयार है ना ही उन आधिपत्य को पूर्णत: नकारने को तैयार ।" [27] इस परिस्थिति में नारी संबंधित पुराने मूल्यों और नए मूल्यों के बीच टकराव की स्थिति है जिसे आलोच्यकालीन कहानी में अभिव्यक्ति मिला है ।

"सुहागिने " (मोहन राकेश), " आकाश के आईने में ", (मन्नू भंडारी), "कोशी का घटवार "(शेखर जोशी) " नन्हों " एवं "धरातल" (शिव प्रसाद सिंह), "लौटते हुए" एवं " प्रतीक्षा" (राजेन्द्र यादव) आदि कहानियों में इसी मूल्य संक्रमण को दर्शाया गया है ।

"एक कमजोर लड़की की कहानी " (राजेन्द्र यादव) में तो नारी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को तलाशती है मगर माता-पिता, परिवार और अंत में पति के संस्कारों से दबी वह लड़की कमजोर होकर अपने प्रेमी के साथ नहीं हो सकती है । " कील " (महीप सिंह) में भी मीना को अपने पिता का अत्यधिक प्यार तथा हर समय पिता का साथ ठीक नहीं

लगता बल्कि वह समझती है कि उस प्रशंसा से उसकी जिन्दगी बर्बाद हो रही है । यही स्थिति "समुन्द्र" (रामकुमार) में भी पाते हैं जहाँ नारी गृहस्थी के पिंजड़े से बाहर नहीं आ पाती बल्कि पति की खुशी में खुश और उसके दुखों में दुखित रहने को मजबूर होती है । उसकी हाँ में हाँ मिलाना ही उसकी नियति है। सुधा अरोड़ा ने " बगैर तराशे हुए " में पुरुष समाज के आधिपत्य को दर्शाया है जहाँ पुरुष अपने पूर्वाग्रहों का शिकार होता है । तथा किसी भी तरह अपनी स्त्री को अपने अनुसार चलाना चाहता है । " क्षय" में और " एखाने आकाश नाद " (मन्नू भंडारी) " वापसी " एवं " मछलियाँ " (उषा प्रियंवदा), "सीधी रेखाओं का वृत" (महीप सिंह) "पिता", "सम्बंध " तथा " शेष होते हुए " (ज्ञान रंजन), " चुपचाप " (मधुकर)," आखिरी रात " (काशी नाथ सिंह) आदि कहानियों में भी स्त्री-पुरुष संबंधी इन्हीं मूल्य संक्रमण को व्यक्त किया गया है जहाँ दिखाया गया है कि नारी प्राचीन मूल्यों से कहीं जुड़ती नजर आती है तो कहीं नए मूल्यों के वरण के साथ प्राचीन मूल्यों का डटकर विरोध भी करती है ।

प्रेम सम्बंधी मूल्य और मूल्य संक्रमण :

आलोच्यकालीन भारत में स्त्री-पुरुष, माँ-बेटे, पिता-पुत्री, भाई बहन जैसे सम्बंधों में आए मोड़ ने पारंपरिक प्रेम के रूप एवं नैतिक बने मोड़

को ही तोड़ दिया । प्रेम अब नितांत व्यक्तिगत अनुभव हो गया । अब उसमें भावुकता का लोप होना शुरू हुआ बल्कि स्वार्थ, वासना और आर्थिक सम्पन्नता ही प्रेम का आधार साबित होने लगा । यह मूल्य विघटन या मूल्य संक्रमण भौतिकतावादी समाज के मशीनीकरण की ही देन है । इसीलिए " इस युग में सामाजिक एवं वैयक्तिक असंगतियाँ तथा अन्तर्विरोधों का चित्रण ही मानों लक्ष्य बन गया है, प्रेम एवं सौन्दर्य विषयक मानसिकता का आग्रह पूर्व स्मृतयाभास का चेतना प्रवाह पद्धतियों के माध्यम से इस क्षेत्र की जटिलताओं से संयुक्त होकर विलक्षण हो उठा है । "[28]

इसीलिए, विद्वानों की मान्यता है कि " प्रेम अब भी एकजीवित शब्द है और उसे सुनते ही अब भी हमारी धड़कन में एक और ही धड़कन सुनाई पड़ जाती है । अन्तर केवल इतना है अब वह भावुकता से भरा हुआ एक पीला, बीमार और एकांगी शब्द नहीं रहा, बल्कि वह एक भयानक मगर मनुष्य के सबसे कीमती अनुभव के रूप में, स्पष्ट होते जा रहा है । उसकी जटिलताएँ सामने आ रही है । "[29]

ये जटिलताएँ ही पारंपरिक प्रेम संबंधी मूल्यों को विघटन की दिशा में धकेल रही हैं तथा मूल्य संक्रमण की स्थिति को पैदा करने में सहायक सिद्ध हो रही है । आलोच्यकालीन कहानियों में इसी तेवर को अभिव्यक्त

किया गया है । "यही सच है " अँधाई तथा नशा (मन्नू भंडारी) "एक कमजोर लड़की की कहानी " तथा " टूटना (राजेन्द्र यादव) "सावित्री नं· 2 " (धर्मवीर भारती),"एक पति के नोट्स "(महेन्द्र भल्ला),"विस्तर " "रक्तपात" तथा " रीछ " (दूधनाथ सिंह) "बाते" (प्रयाग शुक्ल),"पक्षाघात" (मार्कण्डेय) आदि कहानियों में बदलते प्रेम सम्बंधी मूल्यों एवं मूल्य संक्रमण को बखूबी व्यक्त किया गया है। अगर "पिता" (ज्ञान रंजन) तथा " वापसी " (उषा प्रियंबदा) में पिता पुत्र के प्रेम के टूटते स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है तो "तलाश" (कमलेश्वर) और "सन्नाटा " (महीप सिंह) में माँ-बेटी का पारंपरिक प्रेम नहीं रह पाया है । इसी तरह "घिरे हुए क्षण " (महीप सिंह) और जिन्दगी और गुलाब के फूल में पति-पत्नि के प्रेम "फोकस" (महीप सिंह) और "आसक्ति " में भाई-बहन के प्रेम, "माँ" सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो (राम दरश मिश्र) तथा (घुड़ सवार " (अमरकान्त) में समाज प्रेम तथा देश प्रेम के संक्रमित स्वरूपों को दर्शाया गया है । "सन्नाटा " (महीप सिंह) में माँ बेटी एक साथ रहकर भी अजनबी बनी रहती है । दोनों में प्रेम के पारंपरिक मूल्यों का अभाव है । तीसरे व्यक्ति के आने पर ही उनके बीच का सन्नाटा टूटता है और उसके जाते ही दोनों अपनी-अपनी सीमाओं में सिमटने को विवश हो जाती है । "तलाश" (कमलेश्वर) में माँ-बेटी प्रेमहीन होकर बस औपचारिक मात्र रह जाता है ।" चाय पीते हुए दोनों ही अपनी - अपनी जगह बहुत अलग-अलग सी एक दूसरे को देख लेती थी ।"[30]

यही नहीं अगर " चीफ की दावत " में माँ और बेटे के प्रेमहीन सम्बंध के कारण माँ पुरानेपन का प्रतीक मात्र होकर छिपाने की वस्तु बन जाती है तो "उसका घर "(मेहरून्निसा परवेज) में वृद्ध गृहस्वामी अपने ही घर में अपने ही परिवार से प्रेम नहीं पा सकता बल्कि अपनों द्वारा ही उपेक्षित होकर विवशता की आंसू रोने को मजबूर होता है । (शीश महल) "वदीउज्जमा" में तो डाकिया पिता से पला हुआ पुत्र ऊँची शिक्षा पाकर अफसर बनता है और पिता को आधुनिक ढंग के घर में सब सुख मिल जाता है मगर प्रेम नहीं मिलता बल्कि पिता का सम्मान और पुत्र की आत्मीयता से वह वंचित हो जाता है क्योंकि पुत्र उससे डाकिए की नौकरी छोड़ देने को कहता है । पुत्र के पराएपन से "उसे लगा वह जीवन भर तूफान के थपेड़ों से होकर गुजरता रहा है । पर पहले हर थपेड़े से गुजरते हुए झिलमिलाता हुआ चाँदी का तार उसकी निगाहों के सामने रहता था । आजवह झिलमिलाता हुआ तार जैसे किसी ऊँचे पहाड़ की ओट में छिप गया था और वह अन्दर से अपने को टूटा हुआ महसूस करता था तब उसे एक अजीब हकीकत का अहसास हुआ । अनिल की दुनियाँ बिल्कुल अलग थी । वह उसकी दुनियाँ का हिस्सा नहीं था जैसा वह अब तक समझता रहा था । "[31]

इसी तरह " एक औरत एक जिन्दगी " (राम दरश मिश्र) में भी समाज के प्राकृतिक विभीषिका से त्रस्त असहाय और निरीह विधवा और

और अनाथ बच्चों को मानव प्रेम नहीं मिलता है जिसके कारण उन्हें यातनाएँ सहनी पड़ती है । कुल मिलाकर हम आलोच्यकालीन कहानियों में देखते हैं कि पुरानी सामाजिक मान्यताएँ, मर्यादाएँ, प्रथा-परंपरा, रीति-रिवाज, संस्कार आदर्श और मूल्य के संक्रमण और मूल्य विघटन को ही ज्यादा तौर से अभिव्यक्त किया गया है । इसीलिए उन कहानियों में अधिकांशत: सामाजिक सम्बंधों में विच्छिन्नता, अलगाव, मानसिक अन्तराल, टूटने की पीड़ा, न जुड़ पाने की विवशता, समायोजन का प्रयत्न तथा कुछेक सदस्यों के विशिष्ट रहने की मनोवृत्तियों का ही बोलबाला रहा है ।

इसका परिणाम ही आलोच्यकालीन परिवेश में सामाजिक कुरीतियों व कुव्यवस्थाओं जनित वैयक्तिक आदर्शों तथा मूल्यों की प्रक्रिया का जोर शोर से सर उठाना रहा है । समाज में अनुशासनहीनता में बढ़ावा मिला है और व्यक्ति एवं समाज दिग्भ्रमित हो अराजकता के आगोश में जाने को मजबूर हुआ है । अनुशासनहीनता उस समाज और व्यक्ति को किस ढंग से मूल्यहीन बना रहा था इसका उदाहरण हमें अमरकांत की कहानी "घुड़सवार" में मिलता है । जहाँ " हम दूसरे जिलों और क्षेत्रों के लोगों को अधिक लिफ्ट नहीं देते और उनसे अलग-अलग रहते हैं तथा अपनी हर चीज व आदत को श्रेष्ठ समझते हैं । हमारे यहाँ वीरता की कुछ अन्य परम्पराएँ भी हैं । हमारे यहाँ वीरता के लिए बिना टिकट यात्रा की जाती है और हर दो चार महीने पर किसी

टी•टी•आई को पीट दिया जाता है । इसीलिए ही फुटबाल या हॉकी मैचों में किसी बाहरी टीम के जीतने पर उसके सर्वोत्तम खिलाड़ी के हाथ पाँव तोड़ दिए जाते हैं और दफ्तरों में समय से न जाना, बीच में किसी काम का बहाना करके चलते बनना और रोकने पर लड़ना या अफसर को अँधेरी गली में बोरा ओढ़ाकर पिटवा देना भी ऐसे ही कार्यों में शामिल है।•• ••• और उस विदेशी छात्र का भी (उल्लेख होगा) जो यहाँ भ्रमण करने आया था और जिसको कुछ स्थानीय छात्रों ने घुमाते समय हँस-हँस कर हिन्दी में इसलिए चुनी-चुनी गालियाँ दी थी कि वह हिन्दी जरा भी नहीं समझता था । इसको अपनी हर वस्तु पर अभिमान है क्यों न हो ?"[32]

जाहिर है कि हमारे अनुशासनहीनता से ही हम स्वयं अपने "स्व" को भुलाकर दूसरे किसी चीज को तरजीह नहीं देते हैं जिससे मूल्य संक्रमण और मूल्य विघटन को बढ़ावा ही मिलता है और हम तथा हमारा समाज सही रूप में मानवीय हित के लिए सच्चे मानव मूल्यों के वरण की दिशा से दूर हटते जाते हैं । आलोच्यकालीन समाज में जो हमारा दृष्टिकोण रहा वह सही कदापि नहीं हो सकता । मगर हम देखते हैं कि दुर्भाग्य से आज भी वह बरकरार है । किसी भी समाज में अच्छाई और बुराई का साथ-साथ पाया जाना आश्चर्यपूर्ण घटना न होकर यह प्राकृतिक अनिवार्यता भी है । इसीलिए हर समाज में अगर बुराई रही है तो अच्छाई भी रही है । हाँ

यह दीगर बात है कि किसी खास काल व परिवेश के समाज में कभी बुराई या अच्छाई विशेष का बोलबाला संभव हो सकता है ।

आलोच्यकालीन भारतीय समाज में भी अगर मूल्य संक्रमण की स्थिति में मूल्य विघटन की प्रक्रिया जारी थी तो मूल्यवरण की प्रक्रिया को भी पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता । हाँ, मूल्य संक्रमण के दौर में अधिकांशत: मूल्य विघटन की प्रक्रिया ही बलवती रही है जैसा कि आलोच्य-कालीन कहानियों के प्रवृत्ति और तेवर से पता चलता है । मगर, क्षीण रूप में ही सही हम सन् 70 ई॰ के आसपास से कुछ स्वस्थ सामाजिक मूल्यों के स्वर हिन्दी कहानियों में भी पाते हैं । इसीलिए, चाहे "राजा निर-बंसिया" और "तलाश" (कमलेश्वर) हो या "जुगतिया" (वेदराही), हम कहीं न कहीं इनमें स्वस्थ सामाजिक व वैयक्तिक मूल्यों का स्वर अवश्य सुनते हैं तभी तो सामाजिक मूल्यों के दबाव में जुगतिया समाज के स्वर में ही बोलता है । वह अपनी पत्नि और उसे भगाकर ले जाने वाले रामा पाण्डेय को आँसू पी-पीकर कोसता है तथा उसे फाँसी दिलवाने को तैयार हो जाता है ।

इसी तरह, " छोटी सी तानाशाही "(मनहर चौहान) में राष्ट्रीय रक्षा कोष के लिए नायक चोरी तक करता है और "दर्पण" (पानूखोलिया)

में नायक सामाजिक मूल्यों के प्रभाव स्वरूप ही अपनी जमीन बेच देता है । यही नहीं "उसका मोर्चा" (प्रियदर्शी प्रकाश) में नायक प्रोफेसर समाज के लिए बूट पालिश तक करता है । इन कहानियों में व्यक्ति द्वारा वरण किया जाने वाला मूल्य सामाजिक मूल्य ही है अत: कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में व्यक्ति व समाज के मूल्यों के सम सामयिक यथार्थ को ही अभिव्यक्ति मिला है । यह द्रष्टव्य है कि " सम सामयिक यथार्थ केवल वैयक्तिक या केवल सामाजिक नहीं है । इसे भीतरी या बाहरी खानों में नहीं बाँटा जा सकता । व्यक्ति और समाज यहाँ परस्पर गूँथे हुए हैं और मानवीय अस्मिता और अस्तित्व को गहराते हैं ।"[33]

हम जानते हैं कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास समाज को अलगा कर नहीं किया जा सकता और व्यक्ति के अभाव में समाज का विकास असंभव है । व्यक्तित्व के विकास की स्वतंत्रता ही वैयक्तिक स्वातंत्र्य है, जो समसामयिक साहित्य की आधारशिला है । अत: न समाज को त्याग कर और ना ही वैयक्तिकता को मारकर मानव का विकास किया जाना चाहिए । यही न्याय है और यही मानवतावाद है जो नए युग की देन भी है । दुर्भाग्य से आलोच्यकालीन कहानियों में इससे संबंधित मूल्यों का स्वर गौण ही रहा है ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त आर्थिक मूल्य और मूल्य संक्रमण :

आलोच्यकालीन स्वतंत्र भारतीय परिवेश में भी हम काफी उथल-पुथल पाते हैं । सदियों से अंग्रेजी शासन के शोषण के चक्रव्यूह से निकली भारतीय अर्थव्यवस्था स्वयं भारतीयों द्वारा ही संचालित होने लगी । फलस्वरूप योजनाएँ बनी । गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी और आर्थिक विषमता को दूर करने का संकल्प लिया गया । मगर "द कल्ट आव डर्टी हैण्ड्स " को "व्हाईट कालर " अफसरों के हाथों सौंप दिया गया और उनका काम प्रभावशाली भाषण तथा अफसरशाही हुकूमत ही बना रहा । लोकतंत्र की बातें बहुत की गई किन्तु " बॉस " और "सबोर्डीनेट" का अन्तर ज्यों का त्यों बना रहा । "[34]

परिणाम स्वरूप " भयंकर लूट खसोट का दौर हमने देखा । कल तक देश भक्ति के तराने गाने वाला नेता वर्ग सत्ता मिलते ही भूखे भेड़ियों की तरह धन और यश कमाने पर टूट पड़ा है । चारों तरफ अजीब सी अफरा तफरी है । कोई भी मौका चूकना नहीं चाहता है । समय रहते सभी इतना एकत्र कर लेना चाहते हैं कि गद्दी न रहने पर कोई चिंता न रहे । इस काम में नौकरशाही की मिली भगत ने उनकी पूरी सहायता की है । उसने बड़े-बड़े पूँजीधारी संस्थानों से उनका सम्बंध स्थापित करने में बिचौलिए का

काम किया है । परिणाम क्या हुआ ? नेता भी खुश, ब्योरोक्रेट भी खुश और लखपति से करोड़पति और करोड़पति से अरब पति बनता हुआ पूंजीपति भी खुश, सामान्य बुद्धिजीवि या लेखक जहाँ था वही रहा, पहले से अधिक कुंठित होकर, उदासीन होकर हताश होकर ।"[35] सामान्य जन की तो आर्थिक स्थिति काफी दयनीय हो गई । इस स्थिति ने हमारी अर्थ व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया । इसीलिए तो आज आजादी के लगभग पैंतालिस वर्षों बाद भी हमारी उदरक्षुधा अमेरिका के गेहूँ का मुँह ताकने को विवश है । आर्थिक- मानसिक गुलामी की भयावहता के बीच हमारे नेता तथा कथित गुट निरपेक्षता, खुली अर्थ व्यवस्था एवं अपनी स्वतंत्र विदेशी नीतियों का दावा करके जनता को अंधेरे में रखने का प्रयास कर रहे हैं । राशन की दूकानों पर अमेरिका का फफूंदी लगा गेहूँ बेचने के बावजूद सरकारी प्रचार तंत्रों द्वारा हरित क्रांति और "देश धान्य में आत्म निर्भर हो गया" - जैसे खोखले नारों का निर्लज्जता से उद्घोष किया जा रहा है । इसीलिए गरीबी हटाओ का उद्देश्य वाली सरकार को जनता द्वारा बार-बार सरकार हटाओ का नारा सुनना पड़ रहा है ।

आर्थिक विपन्नता की आग में 1962 का चीनी और 1965 के पाकिस्तानी आक्रमण तथा 1971 के बाँग्ला देश के राजनैतिक संकट में घी डालने का काम किया । फलतः मँहगाई और बेकारी ने गरीबों को जहालत की जिन्दगी के गर्त में डूबो दिया । सामाजिक सम्बंधों के विघटन में इस

स्थिति का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा है । लोगों में अनुशासनहीनता आचरणहीनता तथा मूल्यहीनता का घर कर जाना इसी का परिणाम है । " इस सब का नतीजा यह है कि हजारों व्यक्ति बेकार होकर शहरों की ओर दौड़ रहे हैं, लाखों व्यक्ति जड़े, शाल, मरे हुए जानवरों का मांस और पत्तियां खा रहे हैं । एक कटोरा चावल के मॉड के लिए मीलों लम्बी लाईन लग जाती है, लाखों औरतें जिस्म की तिजारत कर रही हैं । करोड़ों लोग भीख मॉग रहे हैं । मॉ - बाप अपने बच्चे को बेच रहे हैं, तथा सामूहिक आत्मघात की घटनाएं सैकड़ों से हजारों और फिर लाखों तक पहुँचती जा रही है । " [36]

यह द्रष्टव्य है कि यह समस्या इतनी भीषण होकर अचानक ही आज यहॉ तक न पहुँची है । बल्कि, आलोच्यकाल से यह बेगमय एवं बलवती होकर ही यहॉ तक पहुँची है । क्योंकि आलोच्यकाल से ही 'अर्थ' जीवन का मूल्य साबित होने लगा था । आज तो हम देखते हैं कि हर क्षेत्र में व्यक्ति का मूल्यांकन और महत्व अर्थ के आधार पर ही सिद्ध किया जा रहा है । आलोच्यकाल की भी यही स्थिति थी जैसा कि आलोच्यकालीन कहानियों में दर्शाया गया है ।

इसीलिए हम देखते हैं कि " गिरिराज किशोर की " फ्राक वाला घोड़ा और निकर वाला साईस " भी एक ऐसी ही कहानी है जिसमें पति

महज एक क्लर्क है, पत्नि है डिप्टी सेक्रेटरी । ऐसी स्थिति में पति के स्वतंत्र व्यक्तित्व या मूल्यों की रक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । किसी समय अवश्य हमारे जीवन का यह एक मूल्य रहा था कि "घर का पुरुष चाहे एक आना कमाकर लाए, उससे परिवार का एक धर्म बनता है, परम्पराएं और संस्कार बनते हैं । स्त्री का धन अस्पृश्य है । उसके परिवार में कुसंस्कार जन्म लेते हैं .. ..." किन्तु आज यह मूल्य नितांत अर्थहीन हो चुका है । आज के युग में स्त्री हो या पुरुष उनके पारस्परिक सम्बंध परिवार तथा समाज में उनकी स्थिति उनकी आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर करती है । अगर पत्नि पति से छः गुना कमाती है तो उससे छः गुना ही बढ़ी भी है । ऐसी स्थिति में पति का अर्थ उसके लिए केवल इतना रह जाता है जिसकी आड़ में वह समाज को धोखा देकर अपनी पोजीशन के किसी भी व्यक्ति के साथ सम्बंध रख सकती है ।"[37]

यही नहीं अर्थ संकट ने व्यक्ति को हर तरह से असहाय और लाचार बना दिया है । दूधनाथ सिंह की कहानी "स्वर्गवासी " में इसी को अभिव्यक्त किया गया है । आर्थिक मूल्यों के कारण ही नैतिक व सामाजिक मूल्यों का विघटन हो रहा है । क्योंकि " व्यक्ति के टूटने का एक बड़ा कारण आर्थिक स्थिति ही है । " राजा निरबंसिया" का जगपति अपनी पत्नि को ही एक प्रकार से बेच देता है । "गर्मियों के दिन " (कमलेश्वर) में भी इसी आर्थिकसंघर्ष का चित्रण है ।"[38]

इसीलिए हम देखते हैं कि "जहाँ लक्ष्मी कैद है" में अर्थ प्रलोभन से पिता अपनी पुत्री लक्ष्मी को कैद कर रखने पर मजबूर है तो " ठेका "(विष्णु प्रभाकर) में पति अपनी पत्नि का इस्तेमाल कर एक बड़ा ठेका लेने में सहज ही बना रहता है । इसी तरह " फोकस" (महीप सिंह) में भाई अपने अभिनेत्री बनी बहन के बिजनेस के लिए घटिया से घटिया पब्लिसिटी करवा सकता है, । जिन्दगी और गुलाब के फूल (उषा प्रियंवदा) में भाई-बहन के बीच रक्षाबन्धन सा नाता अर्थ होकर रह जाता है । आर्थिक मूल्यों के कारण ही माँ " चीफ की दावत " (भीष्म साहनी) में छिपाने की वस्तु बन जाती है और " शीश महल " (वदीउज्जमा) का पिता पुत्र की विरादरी से बाहर हो जाता है । अर्थ के कारण ही "सन्नाटा" महीप सिंह) में माँ और बेटी के बीच हमेशा सन्नाटा बना रहता है और (घुड़सवार) " अमरकान्त"के नायक के लिए सारा अनुशासन बेकार साबित होता है । हर स्तर पर आलोच्यकालीन स्वतंत्र भारत में व्यक्ति आर्थिक अभाव को झेलने के लिए विवश है । "क्लाड इथरली " (मुक्तिबोध) का नायक इसीलिए कहता है कि " आज तक किसी आदमी ने मुझसे इस तरह का सवाल न किया था । जरूर मुझमें ऐसा कुछ है कि जिसे मैं विशेष योग्यता कह सकता हूँ । मैंने अपने जीवन में जो शिक्षा और अशिक्षा प्राप्त की, स्कूलों, कालेजों में जो विद्या और अविद्या उपलब्ध की जो कौशल और अकौशल प्राप्त किया, उसने — मैं मानूँ या ना मानूँ -- भद्र वर्ग का ही अंग बना दिया है । हाँ मैं उस भद्र वर्ग का अंग हूँ कि जिसे अपनी भद्रता

के निर्वाह के लिए अब आर्थिक कष्ट का सामना करना पड़ता है और यह भाव मन में जमा रहता है कि नाश सन्निकट है । संक्षेप में मैं सचेत व्यक्ति हूँ, अति शिक्षित हूँ, अति संस्कृत हूँ । लेकिन, चूँकि अपनी इस अति शिक्षा और अति संस्कृति के सौष्ठव को उद्भासित करते रहने के जो स्निग्ध प्रसन्न मुखता चाहिए, वह होने से उठाईगिरा भी लगता है अपने आपको ।"[39]

जाहिर है कि इस कहानी में नायक अपने मानवीय संवेदना और मानवीय मूल्यों पर आर्थिक आघात को झेल रहा है । आर्थिक आघात के कारण ही " काठ का सपना " (मुक्तिबोध) में स्त्री-पुरूष मूक होकर शिकायत भरी निगाह से एक दूसरे को ताकने के लिए विवश होता है । क्योंकि " उन दोनों में न स्वीकार है न अस्वीकार । सिर्फ एक संदेह है, यह संदेह आधार है कि इस निष्क्रियता में एक अलगाव है - एक भीतरी अलगाव है । अलगाव में विरोध है, विरोध में आलोचना है, आलोचना में करूणा है । आलोचना पूर्णत: स्वीकारपीय है जिसे इस पुरूष ने कभी पूरा नहीं किया । वह पूरा नहीं कर सकता ।"[40] इसी आर्थिक विपन्नता की वजह से समाज में भ्रष्टाचारी का बोलबाला हुआ है जैसा कि हम देखते हैं कि " सजा" (मन्नू भंडारी) में एक ईमानदार सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट राजनीति का शिकार हो जाता है । उसको झूठे अपराध में जेल भेज दिया जाता है । उसके पास अपनी पत्नि और बच्चों को आर्थिक संकट से

उबारने तथा अपने झूठे अपराध से उबरने के लिए पैसा नहीं होता है । फलत: वह और उसका सारा परिवार भ्रष्टाचारी के परिणाम स्वरूप आर्थिक तंगी को झेलने को विवश होता है । यही कारण है कि कहानी में युवा पुत्री अपनी माँ से कहती है कि " इससे तो पापा सचमुच ही ऑफिस का रूपया मार लेते तो अच्छा होता । कम से कम मुन्नू को तो अपने पास रख लेते । इस उमस में तो चमड़ी जैसे उबलती जाती है । ईमानदारी करके ही कौन बड़ा सुख पा लिया ।"[41] जाहिर है यहाँ आर्थिक मूल्य ही ईमानदारी जैसे मानव मूल्यों को तोड़ रहा है जिसे यहाँ बहुत ही सटीक ढंग से व्यक्त किया गया है ।

आर्थिक तंगहाली से व्यक्ति अर्थ के लिए मानव मूल्यों की तिलांजलि देकर भ्रष्टाचार के शरण में जाने को विवश हो जाता है तभी तो " बेसुर "(महीप सिंह) में लेखक के घर टाईप करने वाला व्यक्ति ने " दो लाख रूपये का फ्लैट ले लिया है..... और अब उसके पास इम्पोर्टेड गाड़ी है । और नाज बिल्डिंग में उसका एयरकंडीशण्ड ऑफिस है । "[42] आर्थिक विपन्नता ने व्यक्ति के मानवीय भावना और मूल्यों को कुचलकर रख दिया है । इसीलिए व्यक्ति फायदे के लिए मुस्कुराहट तक को इन्वेस्ट करने पर आतुर है । यही नहीं " रक्षा कवच" (सूर्य बाला) में तो रवि अपनी पदोन्नति के लिए अपनी पत्नि शुभा, जिसकी पत्नीत्व का वह रक्षाकवच है को अपने चीफ गेस्ट के हवाले कर घर से चला जाता है और

"दुनियाँ का कायदा" (मृदुला गर्ग) में आधुनिक पति जिसका काम मेहता नाम के व्यक्ति से अटका होता है के लिए अपनी पत्नि का सहारा लेने को विवश हो जाता है । आज अर्थ संस्कृति की रेस में पिता से ज्यादा पुत्र उसकी दौलत को महत्व देता है । इसीलिए हम पाते हैं कि "अपुत्र" (प्रियदर्शी प्रकाश) में पिता की मृत्यु पर पुत्र की यही चिंता होती है कि " घड़ी का क्या होगा ? उसने सोचा क्या वह लाश के साथ जला दी जायेगी ?"[43]

अत: मानवीय संवेदना पर मात्र अर्थ का धुन सवार होने के कारण वह मौका पाकर लाश के हाथ से घड़ी और अंगूठी उतार लेता है तभी उसे संतोष होता है । इस अर्थ के भूत ने ही तमाम मानवीय सम्बंधों एवं सम्बद्धता को सड़ा-गला अर्थहीन साबित कर दिया है । इसीलिए "खालीघर" (राम दरश मिश्र) में डा॰ देव सोचता है कि " तमाम सम्बंधों से गूँदे हुए परिवार को ढोना पुराना बोध है, सड़ा हुआ मूल्य है ।"[44]

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में आर्थिक विषमता के कारण बेरोजगारी की भी बहुत बड़ी समस्या रही है । इसी बेरोजगारी के कारण व्यक्ति हताशा-निराशा का शिकार हो अपने स्व से टूटने को विवश दिखता है । व्यक्ति बेरोजगारी से तंग आकर अपने पुराने पारिवारिक सम्बंधों, आचरणों एवं मूल्यों को ढोने में असमर्थ दिखता है ।इसीलिए

हम देखते हैं कि सड़क दुर्घटना (सुदर्शन चोपड़ा) में बेकारी और आर्थिक विपन्नता का शिकार हुआ पिता अपने पुत्र को सड़क पर चलती ट्रक की ओर धकेल देता है और उसकी मृत्यु पर पश्चाताप नहीं करके बल्कि कहता है कि " एक तरह से देखूँ तो अच्छा ही हुआ, बेचारा जल्दी ही छूट गया इस जहन्नूम से । जब उसके पैरों में बूट तक नहीं थे तो वह मासूम यहाँ की सड़कों पर चलता भी कब तक रह सकता था । और मेरे होते हुए मेरे ही वे -- माँ के बेटे की यह दुर्दशा हो रही थी । मुझसे बर्दाश्त किस तरह हो जाती है ? उस अवहेलित मसकिन का कसूर सिर्फ इतना ही था कि वह तन ढँकना चाहता था । लेकिन इतनी सी बात पर सारे घर वालों ने उसे इस हद तक अपमानित किया था ? इसलिए न कि मैं आजकल बेकार हूँ । मुझे ठीक याद है कि उसे बूट से ठोकरे मारते समय मैं बराबर यही समझे जा रहा था कि अपने ही अपमानित आपे को पीट रहा हूँ ।"[45] जाहिर है कि यहाँ बेरोजगारी ने उसे उदास और मृत्युबोध के प्रति सहज एवं ठण्डा बना दिया है । यही स्थिति हम "हातो" (सतीश जमाली) में भी पाते हैं उसमें भी हातो का पुत्र भीख माँगते हुए ट्रक के नीचे कुचलकर मर जाता है तो हातो कहता है कि "बचकर भी वह क्या कर लेता ? भीख न माँगता न मजदूरी करता, पीठ पर बोझ झेलता, लकड़ियाँ काटता, कोयला ढोता, ठेला चलाता, ईंटे उछालता सर फुड़वाता, पाँव सुजवाता..... स्थानीय मजदूरों से गालियाँ सुनता ए हातो तेरी माँ की.... चलो अच्छा हुआ मर गया।"[46]

महानगरीय एवं शहरी सभ्यता में जी रहे व्यक्तियों के लिए आज व्यक्ति की जान की कीमत रूपयों में लगा दी जाती है और मानवीय संवेदना तथा मूल्य हवा हो जाते हैं तभी तो "खोटे सिक्के " (मन्नू भंडारी) में एक मजदूर की टांगे कट जाने के कारण उसकी पत्नि भूखे बच्चों की खातिर उसी फैक्ट्री में काम मांगती है तो साहब का चपरासी उसे घसीटकर बाहर कर देता है । खन्ना साहब तर्क देते हैं कि " टांगे कट गई तो हमने पाँच सौ रूपये मुआवजे के दिए थे । और हम कर भी क्या सकते हैं ? यों इन लोगों को यहाँ बिठाना शुरू कर दें तो टकसाल अपंगों का अड्डा बन जाए ।"[47]

यह आर्थिक विपन्नता, शोषण, तंगहाली सिर्फ महानगरों और शहरों तक ही सीमित नहीं था बल्कि आलोच्य कालीन स्वतंत्र भारत के ग्रामीण परिवेश को भी त्रस्त कर दिया था । वहाँ भी दरिद्र किसान की पहुँच रोटियों से काफी दूर हो गई थी । इसीलिए (दाना भूसा) "मार्कण्डेय" में दर्शाया गया है कि किसान का " शरीर धीरे-धीरे सिकुड़ कर छोटा और हल्का हुआ जा रहा था ।..... वह उड़ता रहा, उड़ता रहा और धीरे धीरे ऐसी जगह पहुँच गया जहाँ रोटियों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा हुआ था, इतना बड़ा कि कई बाँस की सीढ़ियाँ लगाकर भी उसके ऊपरी हिस्से को छूना मुश्किल था और लोगों की बहुत बड़ी भीड़ उसे मनमाना लूट रही थी ।"[48]

"खालीघर" (रामदरश मिश्र) में तो अकाल की विभीषिका से त्रस्त होकर ग्रामीण छटपटा जाते हैं । वहाँ का दृश्य कितना भयावह बताया गया । कहानीकार जहाँ बता रहे हैं कि "पेड़ की छाल आदमी खाता है -- कितना अमानुषिक । उफ । लेकिन मेरे लिए मानव की यह बेवसी नयी नहीं है, मैंने उसके रूपों, रंगों के बीच से यात्राएँ की है-- गोबरहा पशुओं के गोबर में से अन्न के दाने निकालकर खाना क्या कम बेवसी है ? हमारे यहाँ के हलवाहे खाते हैं और हम समाजवाद, मानवतावाद, प्रजातंत्र आदि का नारा लगाते नहीं अघाते ।"[49]

सचमुच में वस्तुस्थिति हम यह पाते हैं कि ग्रामीण समाज में अर्थ ने ऐसा चक्र चला रखा है जहाँ " दोने की पत्तियाँ (मार्कण्डेय) का "भूमिहीन श्रमजीवि भोला, पुलिस, तिवारी जी, इंजीनियर और सरकार की हिरासत में हैं इसलिए चोर अथवा खूनी कुछ भी कह सकते हैं क्योंकि गुलाबी के पास तो अब दोने की पत्तियाँ भी नहीं रही ।"[50]

"एक आदमी का शहर " (जितेन्द्र भाटिया) का तो पूछना ही क्या ! वहाँ जाकर भी ग्रामीण अजनबीपन को ही झेलता है और यही नहीं बल्कि आर्थिक तंगी में परेशान होकर "फिर"(रामनारायण शुक्ल) के पिता की तरह काला धन्धा करने को विवश और मजबूर हो जाता है।

जिसका परिणाम होता है सामाजिक अराजकता का बढ़ना और उसी के चलते मानव मूल्यों का विघटन अवश्यंभावी ही है ।

कुल मिलाकर आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों की प्रवृत्तियों और उसमें हुए मूल्याभिव्यक्ति तथा मूल्य संक्रमणता को देखकर कहा जा सकता है कि आर्थिक मूल्य न मात्र शहरी सामाजिक जीवन या ग्रामीण सामाजिक जीवन बल्कि मानव के सम्पूर्ण जीवन को ही स्वस्थ मानव मूल्यों से वंचित कर रहा है जैसा कि कहानी में अभिव्यक्त मूल्यों और मूल्य संक्रमण की स्थिति से पता चलता है । इसीलिए "अर्थतंत्र" (सतीश जमाली) के नायक का यह तीखा स्वर निकलता है कि " सब साले मरियल हैं, कोई हिम्मत ही नहीं करता कि इन " कुछ " को कत्ल कर दें या गोली मारदे ।..... इस देश को क्या चाटना है । जिसकी मिट्टी भी बू देती है ।" [51]

xxx

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. हिन्दी कहानी अन्तरंग पहचान, रामदरश मिश्र, पृ0 85

2. समकालीन हिन्दी कहानी और मूल्य संघर्ष की दिशा (लेख) सविता जैन "सचेतना" कहानी विशेषांक

3. हिन्दी कहानी के बदलते प्रतिमान; डा. रघुवर दयाल वार्ष्णेय पृ0 83

4. मेरी प्रिय कहानियाँ, रमेशवक्षी, पृ0 52

5. अजनबी, कृष्ण बलदेव वैद, पृ0 19

6. कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धांत और प्रयोग, डा. भगवान दास वर्मा पृ0 239

7. सपाट चेहरे वाला आदमी, दूधनाथ सिंह, पृ.

8. युवा कथाकार,सं. कुलदीप बग्गा, डा. तारकेश्वर नाथ वाली,पृ0103

9. अंगारों का खेल, राजेन्द्र यादव, पृ0

10. नई कहानी; कथ्य और शिल्प, डा. सन्तबख्श सिंह, पृ0 47-48

11. हिन्दी कहानी: दो दशक की यात्रा -सं. रामदरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन, पृ0

12. शेष होते हुए, ज्ञान रंजन, पृ0 78

13. पितृऋण , रमेश वक्षी, पृ.

14. हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा - सं. राम दरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन पृ0

15.60 के बाद की कहानियाँ, सं. विजय मोहन सिंह, पृ0 334

16.पिता-दर-पिता, रमेश वक्षी, पृ0 57

17. पिता-दर-पिता, रमेश बक्षी, पृ0 56

18. जिंदगी और गुलाब के फूल, उषा प्रियंवदा, पृ0 158

19. घिराव, महीप सिंह, पृ0 114

20. जिंदगी और गुलाब के फूल, उषा प्रियंवदा, पृ0 23

21. धरती अब भी घूम रही है, विष्णु प्रभाकर, पृ0 71

22. वही वही पृ0 73

23. उजाले के उल्लू, महीप सिंह, पृ0 17

24. एक प्लेट सैलाब, मन्नू भंडारी, पृ0 137

25. नई कहानी: कथ्य और शिल्प, डा. सन्त बख्श सिंह, पृ0 44

26. कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धांत और प्रयोग, डा. भगवान दास वर्मा, पृ0 202

27. कहानी की संवेदनशीलता: वही वही पृ0 234

28. हिन्दी कहानी साहित्य में प्रेम एवं सौन्दर्य तत्व का निरूपण, डा. श्रीमती देव कपूरिया, पृ 396

29. नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना, सं. श्री सूरेन्द्र ,पृ0229

30. मेरी प्रिय कहानियाँ, कमलेश्वर , पृ0 148

31. अनित्य, बदीउज्जमा, पृ0 56

32. मौत का नगर, अमरकांत, पृ0 84-85

33. दो दशकों की कहानी, रचना दृष्टियाँ ? लेख ? सावित्री सिन्हा, संचेतना, कहानी विशेषांक

34. Contemporery India, Edited by Baidya Nath Verma, Statement of S.C. Dubey.

35· साहित्य और विद्रोह, सं· डा· नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सर, पृ03-5

36· युग परिबोध, जनवरी-1975 सं· आनन्द प्रकाश, पृ0 14

37· हिन्दी कहानी: दो दशक की यात्रा- सं· रामदरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन पृ0

38· हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, डा· रमेश चन्द्र लवानिया, पृ· 227

39· काठ का सपना, मुक्तिबोध, पृ0 6-7

40· काठ का सपना

41· यही सच है, मन्नू भंडारी, पृ0 69

42· कुछ और कितना, महीप सिंह, पृ0 34

43· अपरिचित का परिचय, प्रियदर्शी प्रकाश, पृ0 67

44· खालीघर, रामदरश मिश्र, पृ0 29

45· सड़क दुर्घटना, सुदर्शन चोपड़ा, पृ 91

46· थके हारे - सतीश जमाली, पृ0 88

47· मेरी प्रिय कहानियाँ - मन्नू भंडारी, पृ0 36

48· भूदान, मार्कण्डेय, पृ 138

49· हँसा जाई अकेला, मार्कण्डेय, पृ0 52

50· खालीघर, रामदरश मिश्र, पृ0 43

51· अर्थ तंत्र, सतीश जमाली, पृ0

xxxx

पंचम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त राजनैतिक और सांस्कृतिक व धार्मिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण

सन् 1960 से 1980 तक की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण

हम जानते हैं कि हमारा देश विभाजन की त्रासदी को साथ लेकर ही आजाद हुआ । विभाजन की घटना ने सामाजिक, आर्थिक;राजनीतिकव सांस्कृतिक परिवेश को संक्रांतिकाल के पथ पर अग्रसारित कर दिया । " इस घटना ने भारतीय राजनीति और संस्कृति के स्वरूप को जितना प्रभावित किया इतना शायद ही किसी अन्य घटना ने किया हो । विभाजन शारीरिक और स्थूल रूप में ही एक दुर्घटना नहीं था, यह एक मानवीय ट्रेजेडी थी जिसे लाखों लोगों को भावनात्मक, विचारात्मक,मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्तरों पर प्रभावित किया था । यह दुर्घटना केवल राजनैतिक या किसी वर्ग विशेष से जुड़ी हुई नहीं थी बल्कि इससे लाखों करोड़ों लोगों की जिन्दगी उनका वर्तमान और भविष्य, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका आवरण और व्यवहार भी जुड़ा हुआ था ।"[1]
इसीलिए तो स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी कई पीढ़ियों तक आतंक, भय एवं घृणा की मानसिकता बनी रही । गांधी जी की हत्या, चीन और पाकिस्तान का आक्रमण एवं पाश्चात्यकरण की लोलुपता ने हमारे परम्परावादी राजनैतिक मूल्यों को अंधी गलियों में भटकने को मजबूर कर दिया ।

भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, भाई-भतीजावाद, जातिवाद, उच्च

पदों के शक्ति का दुरूपयोग वाले नए राजनैतिक मूल्यों का बोलबाला हुआ और स्वच्छ, चरित्रवान, अनुशासनबद्ध,भेदभाव रहित, समतावादी एवं राष्ट्रवादी जैसे पुराने राजनैतिक मूल्यों का लोप हुआ ।

बदलते सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिवेश एवं तत्कालीन देशी व विदेशी घटनाओं के अतिरिक्त इसका कारण जन साधारण का राजनैतिक गतिविधियों के सीधे सम्पर्क में आना भी है जैसा कि बीएकुप्पू स्वामी का मानना है कि जनसाधारण के राजनीतिक आन्दोलन के साथ सीधा जुड़ाव से शिक्षित वर्ग प्रशासन और राजनीति को आजीविका के रूप में अपनाने लगे । उन्होंने लिखा है कि --" परिणामत: समाज में प्रतिष्ठा पाने का एक ही रास्ता है, वह है राजनैतिक नेतागीरी । प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य होता है कि वह राजनैतिक दलों का सदस्य बने और इन सदस्यों का उद्देश्य होता है । मंत्रिमंडल का सदस्य बने तथा मंत्रिमंडल के सदस्य का उद्देश्य होता है प्रधानमंत्री को निकाल कर फेंक दें और सारी शक्ति अपने हाथ में ले ले । सत्ता हथियाने के इस संघर्ष और पद प्रतिष्ठा की होड़ के कारण ही प्रदेश सरकार के बहुमतदल के नेता को बड़-बड़े मंत्रिमंडल बनाने पड़ते हैं सरकार में स्थायित्व और शक्ति संतुलन बनाये रखने के लिए प्रत्येक उपदल ए दल के भीतर और बाहर दोनों ही ए को यथा संभव प्रतिनिधित्व देना पड़ता है ।"[2]

जाहिर है कि ऐसी स्थिति में मानव मूल्यों का ह्रास सम्भव है और हम पाते भी हैं कि ऐसे राजनैतिक परिवेश में समाजवाद के नाम पर लाभ पूँजीपतियों को होने लगा । क्योंकि " स्वतंत्रता मिलने के पश्चात ऐसा कुछ नहीं हुआ । दासता की श्रृंखलाएँ टूटी, विदेशी लोग वापस गये और देश भक्त नेताओं ने शासन की बागडोर संभाली । मात्र इसी परिवर्तन के और कोई परिवर्तन नहीं हुआ । पहले विदेशी लोग नोच खसोट करते थे, अब तथा कथित देश भक्त नेता, उन्हें आगे बढ़ाने वाले पूँजीपति लोग नोच खसोट और लूट पाट करने लगे । जिसमें क्लर्क से लेकर इंजीनियर, ओवरसियर, बाँध बनाने वाले, सहकारिता चलाने वाले आदि दूसरे अधिकार प्राप्त लोग शामिल हो गये । बेरोजगारी, वैषम्य, निर्धनता तथा दयनीयता, दिन प्रतिदिन बढ़ती गयी इसके फलस्वरूप नई पीढ़ी में कुँठा, वर्जना, घुटन, पीड़ा, निराशा तथा एक विचित्र सी आशंका का जन्म होना स्वाभाविक ही नहीं विषम परिस्थितियों की अनिवार्यता भी थी । पर एक नई संक्रांति थी, जिससे सब स्तब्ध थे और दिशाहारा की भाँति भटक रहे थे । उन्हें कोई राह सुनाइ न पड़ रही थी ।"[3] इसीलिए तो स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार कमलेश्वर ने भी इस राजनैतिक परिवेश के बारे में लिखा है कि " बड़ा भयानक दृश्य " है।.....आपा धापी, लूट खसोट और विकराल अराजकता का दृश्य । इतिहास में पहली बार शायद इतना विकराल दृश्य उपस्थित हुआ है ।..... इस दारूण विघटन की स्थिति में हमारी संस्कृति जन्म ले रही है ।"[4]

यही कारण है कि हम देखते हैं कि इसी संस्कृति से विकसित अवसरवादिता, भाई भतीजावाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, चरित्रहीनता जैसे गुणों से पोषित राजनैतिक मूल्यों ने हमारे मानवीय मूल्यों के नैतिक और गुणवान पक्षों को गौण कर दिया । मगर ध्यान देने की बात है कि नए संदर्भ में आधुनिकता के प्रभाव से मानवतावाद व मानववाद जैसे नये राजनैतिक मूल्यों का प्रादुर्भाव भी हमें इसी परिवेश में दिखाई देता है जहाँ सारे मानव कार्य का अभिप्राय मात्र मानवहित को ही समझा जाने लगा । कुल मिलाकर मूल्य संक्रमण की स्थिति ही हमारे देश में चारों ओर दिखाई पड़ना शुरू हुआ । यह कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं था, क्योंकि, आंशिक रूप से राजनैतिक मूल्यों का विघटन पराधीनता के समय से ही देश में जारी रहा था ।

" पराधीनता के दिनों में हमारे समाज में जो मध्य सामन्तकालीन संस्कार रहे, जनता में जो दब्बू और डरू व्यक्ति रहा, वह प्रजातंत्रीय संविधान के लागू होते ही एकाएक बदल नहीं गया । वह अनायास संभव भी नहीं था । इस तरह स्वतंत्रता के ठीक बाद हमारे समाज में स्पष्ट रूप से दो प्रकार के एकदम भिन्न संस्कार युक्त चरित्र उत्पन्न हो गए । पिता, पुराने आफिसर, मालिक, जमींदार आदि के संस्कार एक तरह के हैं जो पुत्र, कर्मचारी नये पदाधिकारी, किसान, मजदूर आदि के संस्कार दूसरी तरह के हैं

ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदारी अवश्य समाप्त कर दी गयी, लेकिन जमींदारी संस्कार के चरित्र एकदम लुप्त नहीं हो गये हैं । इन भिन्न-भिन्न संस्कारों से युक्त वर्गों के बीच संघर्ष स्वाभाविक है । स्वतंत्रता के एक दो दशक तो इन संघर्षों को कहानीकार कम ही पकड़ पाया है लेकिन कालान्तर में इनके प्रति यह अधिक सचेत हुआ है । जहाँ परिवार के सम्बन्ध टूट रहे हैं, वहाँ नये पारिवारिक सम्बंध स्थापित होने की शुरुआत भी हो गयी है । प्रजातंत्रीय संस्कारों का प्रभाव अन्ततः राजनीतिक संरचना तक ही सीमित नहीं है, पारिवारिक सामाजिक संरचनाओं को भी उन्होंने प्रभावित किया है । आज पुत्र अपने पिता से अथवा कर्मचारी अपने मालिक से दोस्ताना सम्बन्ध की अपेक्षा करता है । साठोत्तर कहानीकार देश की प्रजातंत्रीय संरचना के अनुकूल बदले और बदलते सम्बंधों को अधिकाधिक सच्चाई से परिभाषित करने को उन्मुख हुआ है ।"[5]

यही कारण है कि आलोच्यकाल की कहानियों में अगर हम भ्रष्टाचार अनुशासनहीनता, साम्प्रदायिक भेदभाव, जातिवाद, भाई भतीजावाद, चरित्र-हीनता, अवसर वादिता एवं अपराध धर्मिता से सम्बद्ध राजनैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति पाते हैं तो उसी दौर की कहानियों में कमोवेश बीज रूप में ही सही, मगर मानवतावादी, राष्ट्रवादी, असाम्प्रदायिक,समतावादी, न्यायवादी राजनैतिक मूल्यों की अनुगूंज भी अवश्य पाते हैं ।

आलोच्य कालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त राजनैतिक मूल्य और मूल्य संक्रमण :

विभाजन हिन्दुस्तान के लिए एक त्रासद पूर्ण घटना थी । इससे सदियों से साथ-साथ रह रहे हिन्दू मुसलमान के बीच एक गहरी खाई पैदा हो गई । लोगों में साम्प्रदायिक चेतना का विकास तीव्रगति से होने लगा और स्वतंत्रता के बाद की राजनैतिक अस्त व्यस्तता ने लोगों को भयाक्रांत तो किया ही साथ ही उसकी परम्परा उसका सामाजिक ढाँचा, सम्बन्धों की आस्था और परिवार की नींव को भी अस्त व्यस्त कर दिया । यह कोई क्षणिक प्रभावकारी घटना साबित नहीं हुई बल्कि उसने स्वातंत्र्योत्तर भारत के कई सदियों के पीढ़ी को ग्रसित कर लिया । उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि आज भी वह हमारे समाज को प्रभावित कर रहा है । फलस्वरूप हम देखते हैं कि सदियों से आ रहे भाई चारा एवं प्रेमपूर्ण सम्बंधों वाले राजनैतिक मूल्यों का ह्रास शुरू हो गया । इसीलिए आलोच्यकालीन कहानीकारों की कहानियों में हम इससे प्रभावित स्वरों की अनुगुंज पाते हैं । विष्णु प्रभाकर की कहानी " अगम्अथाह" जिसका केन्द्र भारत है, में साम्प्रदायिक दंगों की तबाही को अभिव्यक्त किया गया । नमिता सिंह की कहानी " उसका यह " में भी साम्प्रदायिक संघर्ष कैसे होता है, को स्पष्ट किया गया है ।

विभाजन के समय साम्प्रदायिक दंगों की जो रौ आयी थी, जिसने

हिन्दू मुसलमानों को तबाह कर दिया था, का सजीव चित्रण "अगमअथाह" कहानी में हुआ है । इस कहानी में हिन्दुओं ने एक ऐसे स्कूल पर हमला बोल दिया जिसमें हिन्दुओं के भी कुछ बच्चे पढ़ते थे । उसमें एक हिन्दू लड़का भी मारा गया । उसके माता-पिता मानते हैं कि वह मारा नहीं गया, बल्कि कहीं भाग गया है और उसी भ्रम में रहते हैं । इसी प्रकार भ्रम और परेशानी में जीते हैं । शरणार्थी कैम्प का अफसर इस तथ्य को जानता है पर बता नहीं पाता है । यहाँ साम्प्रदायिक दंगों ने किस प्रकार मनुष्य को अपराध प्रवृत्ति वाले राजनैतिक मूल्यों की ओर अग्रसर किया है, उसी को अभिव्यक्त किया गया है । विष्णु प्रभाकर की ही कहानी "मैं जिन्दा रहूँगा" में प्राण के पास पत्नीनुमा एक और भी और एक पुत्रनुमा बच्चा था, मगर विभाजन के समय पाकिस्तान से सब लोग इस तरह भागे थे कि किसी को किसी का होश नहीं था । सभी एक दूसरे से बिछुड़ गये थे । उसी समय प्राण के माँ-बाप नदी में डूब गए थे और दोनों बच्चे मारे गये थे । लेकिन विभाजन के बाद मिले पत्नीनुमा औरत पुत्रनुमा बच्चा भी उसके पास नहीं रह सका । उसके पुत्रनुमा बच्चे व पत्नी को उसका पति लेकर उड़ गया । वह अकेला है । त्रास, घुटन, और पीड़ा को झेलने के लिए जिन्दा रह गया । यह विभाजन के बाद उससे विकसित हुए राजनैतिक मूल्यों के ही परिणाम की कहानी है । देवेन्द्र इस्सर की कहानी "मुक्ति" में भी पाकिस्तान से हर तरह से लुटा-पिटा हिन्दू परिवार भारत में तबाह हो जाता है ।

विष्णु प्रभाकर की कहानी " मेरा वतन" भी अपनी धरती से क्षेत्रीय सभ्यता संस्कृति और समाज से उखड़े टूटे हुए उन व्यक्तियों की यातना यात्रा है जो विभाजन के हादसे के यथार्थ को ग्रह नहीं पाता है और उसकी विक्षिप्तता उन्हें आगे नहीं, पीछे की ओर खींचती है । विभाजन के बाद नये परिवेश में व्यक्ति इतना बेगाना, इतना अजनबी बन जाता है कि पाकिस्तान में उसे भारत का जासूस समझकर गोली मार दी जाती है और भारत में पाकिस्तान का नागरिक समझकर जेल में डाल दिया जाता है । इसलिए स्वातंत्र्योत्तर भारत में अपनी धरती से उखड़े हुए व्यक्ति की अन्तर्वेदना और करूणा को प्रकट करने वाली तथा दूसरी धरती, दूसरे लोग, दूसरी सभ्यता व संस्कृति में आत्म परायेपन की यातना की झलक देने वाली हिन्दी कहानियों की रचना हुई है क्योंकि रचनाकार स्वयं इन संवेदना से प्रभावित होने से नहीं बच सके हैं । बदी-उज्जमा की कहानी " परदेशी " इसी धरातल पर विकसित हुई कहानी है जिसमें छाको आजीविका के लिए इमानदार और स्वामीभक्त होकर पाकिस्तान में रहने को विवश हो जाता है । पाकिस्तान की नागरिकता उसे भारत के मिट्टी की गंध, त्यौहारों, गाँव के मुहर्रम और अखाड़े की याद उसे विभाजित करती है । मगर वह दिल से इस विभाजन को नहीं स्वीकारता है । इसीलिए कानून और राजनीति द्वारा दिए गए छाको के त्रासदी को कहानीकार इन शब्दों में व्यक्त करता है कि " मैं जानता हूँ कि कानून का जजबात से कोई ताल्लुक नहीं है पर न जाने क्यों एकाएक

मेरे दिमाग ने जैसे काम करना बंद कर दिया है । कानून की मोटी-मोटी किताबें जैसे छाको की आँसूओं से डूबती जा रही है और मैं रूह की गहराई से कहीं शिद्दत से यह महसूस कर रहा हूँ कि छाको दरअसल परदेश जा रहा है, जहाँ की हर-चीज उसके लिए अजनबी है ।"[6]

यहाँ जाहिर होता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में छाको कानून और राजनीति की गिरफ्त में घुटन ,संत्रास और द्वन्द्व की स्थिति में कुछ नहीं कर सकता है । " अन्तिम इच्छा" (बदीउज्जमा) में भी विभाजन के परिणाम स्वरूप हुए मानव मूल्यों के ह्रास को अभिव्यक्त किया गया है। इसीलिए हम पाते हैं कि "अमृतसर आ गया " (भीष्म साहनी) में दुबला पतला बाबू जो पहले मुसलमान प्रभावित क्षेत्र में भयभीत रहा करता था वह परिस्थिति और परिवेश में परिवर्तन के साथ क्रूर हत्यारा बन जाता है । उसके लिए कोई पारंपरिक राजनैतिक मूल्य आदर्श नहीं बन पाता है । यह सब विभाजन का ही परिणाम था । विभाजन ने तो हिन्दू-हिन्दू और मुसलमान-मुसलमान के बीच के आदर्श और मूल्य को भी नहीं बख्शा । तभी तो " मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई " (अज्ञेय) में सकीना और अमीना को पाकिस्तान स्पेशल गाड़ी में अगजद द्वारा धकेल दिया जाता है । सकीना खुदा और इस्लाम की दुहाई देती है तो गाड़ी में सबार मुसलमान औरतों का स्वर होता है कि " बड़ी पाक दामन बनती हो । अरे हिन्दुओं के बीच में रही और अब उनके बीच से भागकर जा रही हो । आखिर कैसे ?

उन्होंने क्या यों ही छोड़ दिया होगा ? सौ-सौ हिन्दुओं से ऐसी-तैसी करा-करा के पल्ला झाड़ के चली आई पाक दामिनी का दम भरने .....।"[7] " मामूली लोग (श्रवण कुमार) और "मुक्ति" (देवेन्द्र इस्सर) में भी इसी तरह राजनैतिक मूल्यों के अवमूल्यन को अभिव्यक्त किया गया है ।

विभाजन ने पारिवारिक सम्बंधों को तोड़ दिया उसके आदर्शों और मूल्यों को भी ताक पर रख दिया । खासकर विभाजन के दरम्यान अपहत्त और बलात्कार का शिकार बनी मासूम, बेवश, लाचार और निरपराध औरतों के अस्तित्व को तो बिल्कुल बर्बाद कर दिया । तभी तो स्वयं उसका परिवार भी उसे तिरष्कृत और अपमानित करता है तथा उसे यातनाभरी जिन्दुगी जीने को मजबूर करता है । " रमन्ते तत्र देवता" (अज्ञेय) में इसी को अभिव्यक्त किया गया है । इसमें कलकत्ता के हिन्दू मुस्लिम दंगे में एक स्त्री अपने पति से बिछुड़ जाती है । सरदार विशन सिंह उसे संकट में देखकर पति के साथ उसके तय हुए मिलने के स्थान पर ले जाता है । मगर पति वहाँ नहीं मिलता है और रात हो जाती है । स्थिति की गंभीरता में सरदार उस स्त्री को अपनी विधवा बहन के साथ गुरुद्वारे में शरण देते हैं । सुबह जब वह उस स्त्री को उसके पति के घर पहुँचाने गए तो पति जो खुद भी दंगों के कारण रात को किसी मित्र के यहाँ रहा था, अचानक स्त्री के चरित्र और सरदार की भद्रता को ही

चुनौती देते दिखता है । किसी तरह सम्मानित सिक्खों के साथ जाकर विज्ञान सिंह उस स्त्री को उसके पति के पास लेकर जाता है । पति भयवश उसे रख लेता है । मगर, सरदार को लगता है कि स्त्री पर लांछन और स्त्री-पुरूष सम्बंध की बात समाप्त नहीं हुई है और उस औरत का क्या होगा ? यह प्रश्न उसे बार-बार कोंचते रहता है । जाहिर है विभाजन ने खासकर स्त्रियों पर काफी जुल्म ढाया और पुरूषों के आदर्श एवं सामाजिक तथा राजनीति के नैतिक मूल्यों को कूचल डाला । इसके अतिरिक्त इस अराजक राजनैतिक परिवेश में कुछ ऐसे लोग भी थे जो ईमानदार राष्ट्रवादी थे और मानवीय करूणा को जीवित रखने का प्रयास कर रहे थे । इसीलिए, तत्कालीन कहानियों में राष्ट्रवादी एवं मानवतावादी मूल्यों की भी अभिव्यक्ति हम पाते हैं । इसीलिए तो "शरणदाता" (अज्ञेय) में बाहरी परिस्थितियों के दबाव में सम्बंधों और मूल्यों को विघटित होने की प्रक्रिया के बीच मानवीय करूणा की शाश्वतता के प्रति आस्था के स्वर की गूंज है । इसमें शरणदाता बने रफीकुद्दीन अपने पुराने दविन्दरलाल को घृणा और प्रतिशोधवश खतरे में जाहिर कर देता है। मगर, रफीकुद्दीन की पुत्री जेबुन्निसा दविन्दर लाल को बचा लेती है । इससे स्पष्ट होता है कि वह मानवीय धर्म को निभाती है और जाहिर होता है कि यहाँ मानवतावादी मूल्यों को ही अभिव्यक्त किया गया है ।

इसीतरह, "पानी और पुल" (महीप सिंह) में भी राजनैतिक स्वार्थों

के कारण धरती के धरातल का बँटवारा हो जाने पर भी शताब्दियों से विकसित होती हुयी संस्कृति की वैतरणी पत्थर और लोहों के पुल के नीचे आज की अबाध गति से प्रवाहित होती नजर आती है । इसमें कहा गया है कि " मेरी दृष्टि नीचे की ओर जा रही थी । वहाँ घुप्प अँधेरा था, पर मैं जानता था कि वहां पानी है, जेहेलम नदी का कल-कल करता हुआ स्वच्छ निर्मल पानी जो पत्थर और लोहे के बने पुल के नीचे बह रहा था ।"[8] इससे पुल के नीचे बहता हुआ पानी मानव संस्कृति के उन उच्च मूल्यों की ओर इशारा कर रही है जो सदियों से यहाँ बरकरार है । इसी कहानी में हम देखते हैं कि एक सिख परिवार भारत विभाजन के पन्द्रह साल बाद आज के पाकिस्तान में जाता है जहाँ उन लोगों की जन्म भूमि होने के कारण उनकी उस जगह के प्रति एक खास ममता थी, खासकर कथा नायिका की माँ को ।

कथानायक के मन में दंगों की तल्खीभर जाती है । एक स्टेशन पर गाड़ी रुकती है तो शोर मच रहा है । उन तीनों के मन में भय भर जाता है पर यहाँ स्थिति उलटी है । यह उसके गाँव का ही स्टेशन है, जहाँ बहुत से लोग इकट्ठे हो गए हैं और पूछ रहे हैं कि गाड़ी में कोई सराई गाँव का है । जब माँ बताती है कि हम हैं तो वे बहुत सी बातें पूछते है बातें करते हैं, भेंट देते हैं और वापस आ जाने के लिए अनुरोध करते हैं

उस कथा से स्पष्ट अभिव्यक्त होता है कि साम्प्रदायिक घटना अधिक मदहोशी होता है और इसीलिए अपनी उजड़े स्थान पर फिर उसे प्यार मिलने से मानवतावादी मूल्यों की अभिव्यक्ति भी होता है । भाई-चारे और प्रेम परक मूल्यों के कारण ही सराई गाँव वाले कथानायक की माँ को फिर से वहाँ बसने के लिए कहते हैं एवं भेंट देते हैं ।

"छोटी सी तानाशाही" (मनहर चौहान) में राष्ट्रवादी मूल्यों के कारण ही राष्ट्रीय रक्षाकोष के लिए नायक चोरी तक करता है और "अंतिम इच्छा" (बदीउज्जमा) में विभाजन को स्वार्थों का षड़यंत्र माना गया है ।

विश्व में हुए व्यापक परिवर्तन से विश्व के देशों में आपसी संघर्ष भी देखने को मिलता है । इसका नतीजा भारत पाकिस्तान युद्ध और भारत चीन युद्ध भी है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में अगर आधुनिकतावाद के प्रभाव से मानवतावाद जैसे नए मूल्यों का विकास हुआ है तो हम देखते हैं कि वहाँ मानवता विरोधी विध्वंसक युद्ध संबंधी मूल्यों का भी व्यापक स्तर पर बीजारोपण हुआ है । इसलिए तत्कालिन कहानियों में भी हम इन संक्रमणशील मूल्यों की अभिव्यक्ति पाते हैं । अगर "अपने घर का पराया फासला" (राम कुमार भ्रमर) में युद्ध की विध्वंशक प्रवृत्ति वाले मूल्यों के चलते किरपाल सिंह अपने जीर्ण-शीर्ण हुए मकान को देखकर यह कहता है कि

"अठारह साल में कुछ नहीं किया कमबख्तों ने । कुछ भी नहीं किया ! एक मकान की साज सम्भाल भी नहीं ....।" [7] तो वहीं "उसका मोर्चा" (प्रियदर्शी प्रकाश) में लड़ते हुए फौजों की सहायता के लिए एक लंगड़ा शिक्षक रक्तदान करता है । अंसारी बूट पालिश करता है । जिसका पर्चा, "जवान हमारे लिए मोर्चों पर लड़ रहे हैं । हमें अपने घरेलू मोर्चे सम्भालने चाहिए", को देखकर सारी भीड़ उसके सहयोग हेतु बूटपालिश करवाता है ।

इसी तरह "युद्धमन" (महीप सिंह), "दरार" (वेदराही), "दर्पण" (पानू खोलिया), " पार्क में रखी तोपें" (सत्येन्द्र शरत्), उसने नहीं कहा था, (शैलेश मतियानी) आदि कहानियों में मानव मूल्य संक्रमण को ही अभिव्यक्त किया गया है हम देखते हैं कि भारत में कई एक समस्याएँ, जो आजादीपूर्व में गौण थी आजादी के बाद प्रमुख होकर सामने आयी । इसका कारण था कि सत्ता का हस्तांतरण हुआऔर सारी की सारी स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही । राजनीति के मानवतावादी विरोधी मूल्यों में भ्रष्टाचार जैसे मूल्यों का काफी बोलबाला हुआ । फलस्वरूप नयी पीढ़ी इससे काफी प्रभावित हुई । इससे समाज में कूव्यवस्था घर कर गया । इसी-लिए, शैलेश मतियानी भी लिखते हैं कि " स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष का उल्लेख बार-बार इसलिए है कि इसके पिछले कुछ वर्षों का इतिहास ने ही, समकालीन बौद्धिकों को जितने आत्मबेधी निष्कर्षों, स्थितियों तक पहुँचाया है

उतना दासता की शताब्दियों में भी शायद नहीं । राजनैतिक स्वातंत्र की उपलब्धि के बाद ही लोग राजनैतिक और वैचारिक स्वातंत्र्य के बीच के फासले को ज्यादा साफ -साफ पहचान पाए हैं देशभक्तों के द्वारा "राजनीतिक माध्यम से व्यवसाय" और राष्ट्रीय दानवीर पूंजीपतियों के द्वारा व्यवस्था के माध्यम से राजनीति के इन कुछ ऐतिहासिक वर्षों ने न जाने कितने लेखकों को साहित्यिक राजनीति की नियति होने को लाचार कर दिया है ।"[10]

इसीलिए, विष्णु प्रभाकर को भी अपनी कहानी धरती अब भी घूम रही है के लिए कहना पड़ा है कि " इस कहानी की प्रेरणा मुझे अचानक ही नहीं हुयी । हमारे सामाजिक जीवन में जो भ्रष्टाचार घर कर गया है उसके सम्बंध में अनेक घटनाओं से मुझे परिचित होने का अवसर मिला है और उसका जो प्रभाव मुझ पर पड़ा, उन्हीं का सामूहिक रूप यह कहानी है।"[11] यह तत्कालीन परिस्थितियों और परिवेश का ही परिणाम था । अत: न सिर्फ विष्णु प्रभाकर बल्कि कहा जा सकता है कि तत्कालीन लगभग कहानी-कारों ने अपनी - अपनी कहानियों में अपने परिवेश जनित मूल्य संक्रमण को ही अभिव्यक्त किया है ।

"गिरिराज किशोर ने वी·आई·पी· कहानी में उन दूसरे प्रकार के नेताओं का चित्रण किया है जो प्रथम कथा के नेताओं की कुर्सी उठाते

फिरते हैं । (नया-घर्षमा) में उन्होंने उन विधायकों की पोल खोली है जो लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, मंत्रियों की आलोचना करते हैं और जब उन्हें मंत्रीपद का लोभ दिया जाता है तो वे उन्हीं के पालतू बन जाते हैं । प्रभाकर माचवे ने गिरगिट कहानी में ऐसे विधायक का चित्रण किया है जो मंत्रीपद पाकर आंदोलन के समय के अपने आदर्शों को ताक में उठा कर रख देता है । हरिशंकर परसाई ने प्रतीकों के माध्यम से चोरी के विधायक नामक कहानीमें इसी समस्या को उठाया है । दूधनाथ सिंह ने "कोरस" कहानी में कहना चाहा है कि शासक लूटेरे बन गये हैं ।" [12]

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज इस अराजक स्थिति से हतभ्रम हो गया था । तभी तो गिरिराज किशोर की कहानी " पेपरवेट" में राजनीतिक दुश्चक्र में व्यक्ति की आत्मा को घुटते और टूटते हुए दिखाया गया है । कमलेश्वर का " बयान" तो पूरी व्यवस्था के खोखलेपन को पूर्णत: स्पष्ट करने वाली कहानी है जिसमें अपने के आत्महत्या का सूत्र देने वाली पत्नी का बयान पूरी व्यवस्था का पोल खोलने का प्रयास करती है । इसमें तत्कालीन व्यवस्था के अन्तर्गत पिस रही एक निर्दोष पीढ़ी के टूटते विश्वासों एवं मूल्यों को अभिव्यक्त किया गया है । भ्रष्टाचार किस कदर नयी पीढ़ी को अपने पंजे में कसती जा रही है इसका चित्र हमें "धरती अब भी घूम रही है" (विष्णु प्रभाकर) में मिलता है ।

जहाँ एक ईमानदार आदमी जो रिश्वत लेने-देने का दाँव-पेंच नहीं जानता मगर झूठे इल्जाम में जेल की सीखचों का शिकार हो जाता है । उसी कहानी में दस वर्ष की बालिका अपने मौसा से कई बार रिश्वत लेने-देने और उसके लाभ के बारे में सुनती है । मौसा कहते हैं- जज को रिश्वत देते तो छूट जाते । एक जज ने तीन हजार लेकर एक डाकू को छोड़ दिया था । एक आदमी, जिसने एक औरत को मार डाला था, उसे भी जज ने छोड़ दिया था । एक प्रोफेसर ने एक लड़की को एम॰ए॰ पास कर दिया था क्योंकि वह खूबसूरत थी । इसीलिए इन घटनाओं को सुनने से उस आठ वर्ष के कमल और दस वर्ष की नीना को अपने पिता की जेल मुक्ति के लिए वैसा ही तरीका मन में आता है । क्योंकि कमल के पास पचास रूपए थे और नीना के पास अपनी नन्हीं सुन्दरता । जिसे वे भ्रष्ट न्यायाधीश को पेश कर रहे थे ताकि उसके पिता को जेल से मुक्ति मिले क्योंकि उनका बचपन अनाथ हो गया था । इस कहानी में भ्रष्टाचार जनित मूल्यों के बढ़ते तेवर को ही अभिव्यक्त किया गया है ।

भ्रष्टाचार जनित मूल्यों को तो " सारी बहश से गुजरकर " शरद जोशी में स्पष्टअभिव्यक्ति मिला है जहाँ दफ्तर में बाबू पहचानने की कीमत खुलेआम मांगता है। वह कहता है कि " वे दिन बीत गए, भाई साहब, जब मैं दो रूपये में पहचान लेता था ।· ·· मैं भी पाँच रूपये से कम में किसी को नहीं पहचानता ।"[13]

इसीतरह "भोलाराम का जीव" में भी भ्रष्टाचार का खुला चित्रण मिलता है । जहाँ बिना रिश्वत लिए कोई काम नहीं होता । भोलाराम की मृत्यु के बाद जब नारद उससे पूछता है कि " क्या बताऊँ ? गरीबी की बीमारी थी । पाँच साल हो गए, पेंशन पर बैठे, पर पेंशन अभी तक नहीं मिली है । हर दस पन्द्रह दिन में एक दरखास्त देते थे, पर वहाँ से या तो जबाब ही नहीं आता था और आता तो यही कि तुम्हारे पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है । इन पाँच सालों में मेरे सब गहने बेचकर हम लोग खा गये । फिर वर्तन बिके । अब कुछ नहीं बचा था । फाके होने लगे थे । चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया ।"[14]

इसमें व्यंग्यात्मक लहजे में भ्रष्टाचार का पूरा-पूरा पर्दाफाश किया गया है । भोलाराम मर जाता है । मर कर भी वह स्वर्ग नहीं पहुँचता है तो नारद जी छानवीन करते, सम्बंधितकार्यालय पहुँचते हैं और उनसे भी बाबू कहता है कि " भोलाराम ने दरखास्तें तो भेजी थी, परन्तु उन पर वजन नहीं रखा था, इसीलिए कहीं उड़ गई होगी ।"[15] मगर नारद के वजन देते ही बाबू मुस्कराकर कहता है कि " मगर वजन चाहिए । आप समझे नहीं जैसे आपकी वीणा है, इसका वजन भोलाराम की दरखवास्त पर रखा जा सकता है । मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है, मैं उसे दे दूँगा ।साधुओं की वीणा तो बड़ी पवित्र होती है । लड़की जल्दी संगीत, सीख जायेगी उसकी शादी हो जायेगी ।"[16]

जाहिर है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में भोलाराम जैसा जीव बगैर भ्रष्टाचार के शिकार हुए मुक्ति नहीं पा सकता । भ्रष्टाचार का चक्र इतना व्यापक हो गया था कि ईमानदारी तथा सत्यवादी मूल्यों का कोई गुजारा ही नहीं रह गया था । तभी तो "सत्यमेव-जयते" ! महीप सिंह ! में व्यापारी डिस्ट्रिक्ट स्टील उत्पादक बनकर सरकार से सस्ता स्टील लेकर बाजार में बेचते हैं और इसी के बलबूते डिस्ट्रिक्ट स्टील अफसर श्रीवास्तव साहब और एरिया इन्सपेक्टर कुमार बाबू " गत पाँच वर्षों से ये दोनों अधिकारी भारत सरकार द्वारा प्रस्थापित इस औद्योगिक कालोनी में लघु उद्योगों के अल्प साधनों वाले उद्योगपतियों में बड़े लोक प्रिय रहे थे ।..... पाँच साल पहले मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन के सदस्यों की संख्या बड़ी मुश्किल से बीस-बाईस थी । इन पाँच सालों में वह सवा सौ से ऊपर पहुँच चुकी है ।"[17]

मिस्टर सिद्धांती, जो ईमानदार अफसर है को अपने षड़यंत्र के रास्ते से हटाने के लिए इसी कहानी में उन्हें "सत्यमेव जयते" लिखा हुआ कीमती अंगूठी गणतंत्र दिवस पर भेंट किया जाता है । मन्नू भंडारी की "सजा" कहानी में भी ईमानदार अफसर को षड़यंत्र द्वारा जेल की सजा होती है । इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि ऐसे भ्रष्टाचार जनित मूल्यों के माहौल में उच्च मूल्यवादी स्वर भी आलोच्यकालीन कहानियों में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रबल हो रहा है। उदाहरणार्थ -" थके हारे "

(सतीश जमाली) की कहानी की देखा जा सकता है । जहाँ यह कथन आता है कि " हिन्दुस्तानी पुलिस के सभी लोग निहायत कोरप्ट है और परिणाम स्वरूप इस हिन्दुस्तान का जितना बेड़ा गर्क हो जाए, कम है । ये अगर थोड़े भी ईमानदार हो जाये तो हिन्दुस्तान क्या से क्या हो सकता है, लेकिन हिन्दुस्तान की परवाह किसको है।"[18]

इन भ्रष्टाचार की बुराइयों से तंग आकर " यारों के यार " "कृष्णा सोबती " में एक पात्र रिश्वतखोरों एवं कालाबाजारूओं पर अपना आक्रोश निकालता है कि " साले हर संड-मुस्टंड, हमा-शुमा, गधा-टट्टू अपना अपना चोला बदल जरनैली सड़क पर मोहरें दौड़ाता फिरता है -- तुम्हारे ख्याल में सच्चाई और धरम की वजह से । मूत दे यार अपनी बात पर, और याद रख आज के काला बाजार में सिर्फ काली कारस्तानियों से ही तरक्की मिलती है और इन्हीं से ख्वाबों के महल हकीकत बनते हैं । चाहता है लूटना मजे इस जिन्दगी में तो ब्रादर मेरे मोहरे रख और मोहरे उठा । रिश्वत दे और रिश्वत ले ।"[19]

जाहिर है कि यह आक्रोश भी मानवतावादी मूल्य के निर्माण के पथ को प्रशस्त करता है । इसीलिए अगर "सलाख पर घूमता हुआ आदमी" (श्रवण कुमार) में इस भ्रष्टाचार व्यवस्था के लिए कहानी की नायिका

कोशती है कि " क्या इसी आजादी की दुहाई देते थे तुम ?"[20] तो वह मानवतावादी नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति का ही प्रयास माना जा सकता है । हाँ, यह बात स्वीकार्य है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में इस तरह के मूल्यों की अभिव्यक्ति बहुत ही कम हुई है ।

स्वतंत्रता के बाद तो भारतीय राजनीति में मानव-मूल्यों को काफी नीचे गिरा दिया । प्रजातंत्र का नारा मात्र नारा बनकर रह गया । इसीलिए "दीमक " (श्रवण कुमार) में पात्र को सारी व्यवस्था ही गलत लगती है और वह कहता है कि " डेमोक्रेसी ? यह कैसी डेमोक्रेसी है जिसमें आम आदमी का चेहरा दिन ब दिन बिगड़ता जा रहा है? कौन सत्ता में आता है ? वही जिसके पास पैसा है या जिसे पैसे वाले पालते हैं ? क्या एक आदमी इतना महँगा इलेक्शन लड़ने की बात सोच सकता है ।"[21]

मुद्रा राक्षस ने लिखा भी है कि " पिछले सत्ताइस वर्ष में बड़ी तेजी से सड़न फैलती गई है । इत्तिफाक से हमारी चुनाव प्रणाली का लाभ उठाकर बड़े पैमाने पर इजारेदारों और काली जेबों ने सरकार पर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी दबाव बढ़ाया है जिसका नतीजा यह हुआ है कि मुल्क में गरीब और ज्यादा गरीब और अमीर और ज्यादा अमीर और ज्यादा बदनीयत और बेईमान"[22] होते गया है ।

फलस्वरूप अनुशासन, कर्तव्यपरायणता, भाई-चारा और सत्य निष्ठता जैसे मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है । इसीलिए, ईमानदार, सत्यनिष्ठ और कर्तव्यपरायण व्यक्ति घुटन, त्रास से जकड़ा हुआ दिखता है । तभी तो "समझौता" (मुक्तिबोध) में गरीब ईमानदार नौकरी के लिए अपने अफसर से समझौता करने को विवश दिखता है । कहानी में एक पात्र कहता है कि " यदि कोई बड़ा अधिकारी छोटे को बहुत छोटे को कुर्सी पर बैठने को कहे तो अनुशासन कैसे रहेगा । अनुशासन हमारे लिए। जो छोटे हैं और जिनसे काम करवाया जाता है । मुझे लोहे का शिकंजा जकड़े हुए है । कब छूटेगा इस शिकंजे से ?"[22] यहाँ परिस्थितिवश हो रहे मानव-मूल्यों के ह्रास को ही चित्रित किया गया है । "एक दागिल दफ्तर साँझ " (मुक्तिबोध) में तो दफ्तरों की राजनीति का खुला चित्रण हुआ है। रवीन्द्र कालिया की कहानी "काला रजिस्टर" में इसी भ्रष्टाचार की दास्तान है ।

"असह्य क्षणों के बीच" (बदीउज्जमा) में दर्शाया गया है कि इस दफ्तरी राजनीति में प्रत्येक छोटा अफसर अपने से बड़े अफसर के समक्ष बेचारा, विवश, दबा हुआ और दयनीय होता है । दफ्तरी व्यवस्था वह दुर्ग साबित होती है जो मानव मूल्यों को तोड़ने के लिए ही बनी हो ।इसी "दुर्ग" (बदीउज्जमा) में कहानी का एक पात्र कहता है कि "दुर्ग के अन्दर पहुँचकर सब दुर्ग के रंग में रंग जाते हैं । दुर्ग बहुत बड़ा प्रलोभन भी है

जिसकी जड़े हमारे दिलों तक फैली हुई है ।" [24]

अफसरशाही के चलते व्यक्ति नहीं जानते, चाहते हुए भी अपने अधीनस्थ अफसरों के जी हजूरी करने को विवश हो जाता है ।" वर्जिनिया उल्फ से सभी डरते हैं । [शरद जोशी] में इसी को दर्शाया गया है । जहाँ सभी अधीनस्थ कर्मचारी अपनी पत्नियों के साथ "वर्जिनिया वुल्फ "फिल्म देखने जाते हैं । केवल इसलिए क्योंकि "बॉस" फिल्म देखने जा रहा है । फिल्म अंग्रेजी भाषा की होती है अत: किसी को कोई विशेष अभिरूचि इसे देखने की नहीं होती है । इसीलिए वे लोग आपस में फिल्म देखने पर समय और धन के अपव्यय का बयान भी करते हैं । मगर, बॉस जब कहता है कि फिल्म अच्छी ही थी तो सभी जी हुजूरी में उसे अच्छी थी अच्छी थी कहना आरम्भ कर देते हैं । यहाँ जाहिर होता है कि दफ्तरों में अफसरशाही व्यक्ति के मूल्यों को ताक पर छोड़ देता है । इस तरह हम देखते हैं कि राजनीति के गलत तेवर, रुख और रूझान से ईमानदारी, कर्मठता, अनुशासन-बद्धता, सत्यवादिता, भाई-चारा, न्याय और समता से सम्बद्ध मूल्यों को काफी क्षति हुआ है । इसी के परिणाम स्वरूप अन्यायी, भाई-भतीजावादी, अनुशासनहीन, जातिवादी, क्षेत्रवादी जैसे पक्षपाती मूल्यों को समाज में बढ़ावा मिला है ।

जिसे हिन्दी कहानीकारों ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त

भी किया है । यही कारण है कि हम "दाखिल दफ्तर साँझ" (मुक्तबोध) में पाते हैं कि भाई-भतीजावाद और पक्षपात रवैये के कारण योग्य होते हुए भी वर्मा जब उन्नति नहीं पाता है तो वह शिकायत करता है कि- "आपने मेरे भूखे बच्चों को नहीं देखा । पर सुपरिन्टेंडेंट की छलछद्म से भरी आँखों ने जरूर देखा । अच्छे रईस खानदान के लाड़ले पुत्र शर्मा को प्रमोशन दिलाया और मैं उससे सीनियर और हर तरह से हकदार होते हुए भी रह गया ।"[25]

"विभ्रमों के बीच" (धर्मेन्द्र शुक्ल) में भी जातिवाद और पक्षपात-पूर्ण रवैयों का खुला चित्रण हुआ है तभी तो कहानी में बंगाली बंगाली को नौकरी देता है और एक डिप्टी कलेक्टर डाइरेक्टर बन जाता है क्योंकि "जब फेवर का मिनिस्टर आया तक चांस मिला, प्रमोशन मिला"।[26] इसी कहानी में मिस्टर शर्मा का पोस्ट ट्रांसफरेबल नहीं होने पर भी उससे दो सीनियर नाखुश हो जाता है और उसका ट्रान्सफर हो जाता है । उसे शिकायत का भी अवसर नहीं मिल पाता और ऊपर से सीनियर का कोप सहना पड़ता है । क्योंकि " मतलब ये सोर्स-सिफारिश, भाई बंदी ही बड़ी चीज है । सीधे साधे ढंग से ईमानदारी से काम करना मूर्खता है।"[27]

इसी भाई भतीजेवाद का पर्दाफाश हम "चक्रव्यूह" (सिम्मी हर्षिता) में भी पाते हैं जहाँ एक योग्य, ईमानदार अध्यापक को नौकरी से बिना

कारण बताये नौकरी से निकाल दिया जाता है क्योंकि मुख्याध्यापक का अपना सम्बंधी नौकरी का हकदार हो जाता है । इसीलिए कहानी में नायक कहता है कि " जहाँ अध्यापक कार्य की पहचान और सिफारिश या कुछ लेने देने से मिलता है, वहाँ अनपढ़ रहकर स्वतंत्र रूप से मिट्टी खोदना और पत्थर तोड़ना कहीं अधिक पवित्र और सम्मानजनक कार्य है।"[28]

यही नहीं क्षेत्रवाद की समस्या भी हमारे मूल्यों कम तहस-नहस किया है तभी तो हमें जवाहर सिंह की "हत्या-आत्महत्या" में मिलता है कि महेश क्षेत्रवाद का शिकार हो दिग्भ्रमित और मतिमूढ़ हो गया है। महेश कहता है कि " तो फिर हम क्या करें ? हरियाणा वाला कहते हैं कि तुम हरियाणवी जाट नहीं हो इसलिए पंजाब में नौकरी तलाश करो और पंजाब वाले कहते हैं कि तुम मोने हो और हरियाणा निवासी भी इसलिए हरियाणा में ही नौकरी ढूँढो । आखिर कहाँ जायें हम ?"[29] जाहिर है इस मूल्य संक्रमण के दौर में जहाँ मूल्यों का ह्रास ही ह्रास का बोलबाला हो वहाँ मूल्यों के प्रति सम्बद्धता को भी पूर्णत: नहीं नकारा गया है । इसीलिए इन कहानियों में इन समस्याओं के प्रति आक्रोश, प्रतिरोध या विरोध का स्वर भी स्वस्थ और उच्च मानवीय मूल्यों के पहचान की बात कहती है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के राजनीति के भ्रष्टमूल्यों, नीतियों और कार्यों ने काफी प्रभावित किया । फलस्वरूप तत्कालीन समाज से जुड़े

कथाकार भी प्रभावित हुए । इसीलिए उन्होंने अपनी रचना में तत्कालीन सन्दर्भगत समस्याओं को चित्रित किया । डा· हरदयाल के अनुसार,"1947 में जब देश स्वाधीन हुआ है अधिकांश लोगों ने स्वाधीनता का पर्व भविष्य के सुखद स्वपनों के साथ उल्लास पूर्वक मनाया । राजनैतिक स्वाधीनता ने उन्हें एक सुखद मोह दिया किन्तु वह मोह कुछ ही वर्षों में भंग हो गया । इस मोहभंग की अभिव्यक्ति छठे दशक की कविता, कहानियों की एक मुख्य प्रवृत्ति बनी, किन्तु फिर भी यह प्रतीक्षा बनी रही की शायद राजनेताओं के समाजवादी समाज की स्थापना के आश्वासन व्यवहार में बदले । किन्तु छठे दशक के समाप्त होते - होते यह प्रतीक्षा की मृगतृष्णा सिद्ध हो गई । और ऐसी स्थिति सामने आ खड़ी हुई जिसमें मुट्ठीभर लोगों को छोड़कर बाकी लोगों के सामने भौतिक अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो गया । सातवें दशक का हिन्दी साहित्य इसी संकट बोध का साहित्य है जिसमें भय और लाचारी के साथ-साथ आत्मलिप्तता और चीख-पुकार भी है और वर्तमान भ्रष्ट व्यवस्था को बदलने की तीव्र लालसा भी । एक तरफ निषेध दृष्टि है जो सब कुछ को अस्वीकार करती है और सब कुछ को तोड़ डालना चहती है । दूसरी ओर विवेकाश्रित दृष्टि भी है जो वर्तमान को बदलकर एक नयी सुखद व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना चहती है ।"[30]

इसीलिए आलोच्यकालीन कहानियों में हम व्यक्ति की चीख,पुकार, छटपटाहट और विवशता तथा क्रांतिधर्मिता की अभिव्यक्ति पाते हैं।मोहन

राकेश की कहानी "परमात्मा का कुत्ता" में भ्रष्टाचार और कुशासन आदि से सताए हुए व्यक्ति बगैर रिश्वत के प्रशासन अधिकारियों तक अपनी शिकायत भी नहीं पहुँचा सकते हैं । इसलिए हम उसमें पाते हैं कि कथानायक स्वतंत्रता को निरर्थक बता व्यवस्था के निकम्मेपन पर खीझ प्रकट करता है वह कहता है कि " तकरीबन - तकरीबन पूरी हो चुकी है और मैं खुद भी तकरीबन-तकरीबन पूरा हो चुका हूँ । .....सालों ने सारी पढ़ाई-लिखाई करके दो शब्द ईजाद किये हैं -- शायद और तकरीबन । शायद आपके कागज उमर चले गए हैं ..... तकरीबन-तकरीबन कार्रवाइ पूरी हो चुकी है । शायद से निकालो और तकरीबन में डाल दो । तकरीबन से निकालो और शायद में गर्क कर दो ।"[31] जाहिर है यहाँ पूरी व्यवस्था ही अराजक मूल्यों का शिकार हो गई है जिसके प्रति नायक आक्रोश व्यक्त कर रहा है । राजनीति के कूचक्र के कारण ही यह सब संभव हुआ है ।

राजनीति अब काफी भयावह सिद्ध हो गई है जिसमें सभी गलत-सही हथकंडो का इस्तेमाल किया जा रहा है । इसीलिए "हरिजन सेवक" और "मोहभंग" (मार्कण्डेय) में स्वार्थवश विभिन्न हथकंडो का सहारा लेकर ही गैर हरिजन लोग उससे राजनीतिक लाभ उठाते नजर आते हैं । "प्रश्नदायित्व" (अज्ञेय) में पढ़ा लिखा शिक्षित, अवसरवादी हो जाता है । घोड़ पाड़े जैसे गुंडे गरीबी हटाओ के नारे से चुनाव की जीत असंभव मानकर अपने प्रतिद्वंद्वी

हलवाहे बदलू के घर के आसपास गरीबों की झोपड़ियों में आग लगाकर बदलू का अपहरण करवा देता है और बदलू के मत्थे आग लगाने एवं आतंक फैलाने के इल्जाम को अफवाह बनाकर चुनाव जीत जाता है । यही कारण है कि "माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो" (रामदरश मिश्र) में कथाकार ने बताया है कि सुखे के दौरान सरकारी प्रचार तंत्र द्वारा मंत्री का भाषण प्रसारित करवाया जाता है कि " मैं जनता के वीर भाव से काफी प्रभावित हूँ..... किसी को भूख से मरने नहीं दिया जायेगा।"[32] मगर क्षेत्र की जो भयावह स्थिति है वह इसकी पोल खोल देता है ।क्योंकि क्षेत्र में " पेड़ की छाल आदमी खाता है -- कितना अमानुषिक । उफ ! लेकिन, मेरे लिए मानव की यह बेवसी नयी नहीं है, मैंने उसके कई रंगों, रूपों के बीच से यात्राएँ की है -- गोबरहा पशुओं के गोबर में से अन्न के दाने निकालकर खाना क्या कम बेबसी है ? हमारे यहाँ के हलवाहे खाते हैं और हम समाजवाद, मानवतावाद, प्रजातंत्र आदि का नारा लगाते नहीं अघाते ।"[33]

जाहिर है इस कहानी में लोकतंत्र, मानवतावाद और समाजवादी मूल्यों के ह्रास को अभिव्यक्त किया गया है । राजनीति के छद्म स्वरूप को "चोरी के विधायक (हरिशंकर परसाई) में व्यक्त किया गया है । जहाँ रानी का बछुआ खो गया जिसमें 20 विधायक थे । इसमें दिखाया गया है कि आज के जमाने में विधायकों को अपने पक्ष में रखना हो तो उन्हें

बटुआ में धन की तरह बंद रखना होगा । लेकिन कहानी में बटुआ ही चोरी हो गया । उसे ढूंढ़ने के लिए एक लाख रूपए ईनाम की घोषणा की गई । इस कहानी में विधायकों की नैतिकता के ह्रास को चित्रित किया गया है क्योंकि दिखाया गया है कि विधायक बिकने लगे हैं । सेठ जी के पास पाँच विधायक थे, उनके मुनीम ने तीन राजा साहब को बेच दिये और दो मुख्यमंत्री को । इसमें हम देखते हैं रानी राजा, सेठ आदि ही हमारी राजनीति पर हावी है । प्रजातंत्र कहने भर की है और समाजवाद थोथा नारा हो गया है । इसलिए राजा और मुख्यमंत्री में "प्रजातंत्र कहाँ सुरक्षित है ?" सेठ की तिजोरी में, पुलिस की कोतवाली में या राजा की अटैची में ? को लेकर बहस की स्थिति को दर्शाया गया है । यहाँ हम प्रजातंत्र सम्बंधी मूल्यों के विघटन को स्पष्टतः देखते हैं । जहाँ मुख्यमंत्री की पुलिस ने विधायक ढूढे थे इसलिए पाँच उन्होंने रख लिया और पन्द्रह राजा साहब को लौटा दिया । राजा साहब को संतोष था कि चलो इतने ही प्रजातंत्र की रक्षा कर लेंगे । यहाँ प्रतीक के माध्यम से ही मूल्य विघटन की अभिव्यक्त किया गया है । राजनीतिक परिवेश में तो इतना मौकापरस्ती और स्वार्थी प्रवृत्ति का बोलबाला हो गया कि दल-बदल करना एक लाभप्रद व्यवसाय हो गया । जहाँ जिसको स्वार्थ लगा या लाभ दिखा, वहाँ पार्टी, देश और चरित्र भांड में चला जाय वह नहीं सोचता । बल्कि आसानी से अपने लिए दल बदल सकता है।

इस स्थिति को प्रभाकर माचवे ने "गिरगिट" कहानी में दर्शाया है । इसमें कथाकार ने एक ऐसे विधायक की पेश किया है जो मंत्री बन गया था । वह आंदोलन के समय के आदर्श, विचार, यथार्थ की चोट पाकर भूल जाता है । मगर असली यथार्थ उसे तब झेलना पड़ता है जब अगले चुनाव में वह हारकर सड़क पर घूमने लगा । उसकी क्रांतिदर्शिता रखी रह गई । इसी में दिखाया गया है कि इसके बाद तीन बार दल बदलता है पर न अपने परिवार को बदल पाता है न देश को और ना ही अपने आप को ।

सुरेश सिन्हा की कहानी "हालत" में भी इसीलिए राजनीतिक नेताओं पर चोट की गई है जो भाषणों से हर समस्या को हल करने की कोशिश करते हैं । पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में सूखे से उत्पन्न अकाल का व्यापक प्रभाव है । कामतानाथ के परिवार के सन्दर्भ में अनेक परिवार की छटपटाहट इस कहानी में देखने को मिलता है । जबकि राजनीतिक दल वहाँ केवल अपने स्वार्थों से जुडे नजर आते हैं । गाँव के प्रधान के घर पर ही बाहर से आने वाली मोटर का पानी मिल जाता है, वह जितना चाहे। जबकि गाँव वाले सिर्फ दो बाल्टी पानी के इंतजार में गरमी की जलती धूप में लाईन लगाकर खड़ा रहता है । इसी बीच आपस में मार पिटाई भी हो जाती है । मगर बी·डी·ओ· मजे से पूरियाँ खाता है और बाल्टी भर पानी से कुल्ला करता है । कामतानाथ जैसे लोगों को मुश्किल से एक वक्त रोटी मिल पाती है, रोटी भी कैसी, जिसे पशु नहीं खा सकते ।

अकाल से उत्पन्न हर हालत को कामतानाथ जैसे लोग झेलते हैं, संघर्ष करते हैं और इस पर काबू पाने की कोशिश में लगे रहते हैं । पूरी तरह ईमानदारी निभाने वाला कामतानाथ अन्त में बी·डी·ओ· की तीन पुरियाँ चुरा लेता है और बाहर खाता है । वह अपनी पत्नि के लिए काफी चिंतित भी होता है । यह कहानी कटु यथार्थ को खोलती है जिसमें परिस्थितिवश मानव मूल्यों के पतन के कारणों को चित्रित किया गया है ।

प्रस्तुत कहानी में राजनीति के छद्म रूप ने हमारे सामाजिक, आर्थिक, नैतिक मूल्यों को किस हद तक गिरा दिया है, इसी की अभिव्यक्ति है इसी के साथ हम आलोच्यकालीन कहानियों में कुछ आदर्श मूल्य परक कहानियों को भी देखते हैं जहाँ अल्प मात्रा में ही सही मगर उच्च मूल्य वरण को अवश्य जगह मिला है । इसीलिए "अर्थतंत्र" शीर्षक कहानी में हम देखते हैं कि पूरी समाज व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के प्रति व्यक्ति विद्रोह एक ठंडी स्थिति अथवा नपुंसक विद्रोह में न परिणत होकर एक खूनी क्रांति की भी आह्वान करने की बेचैनी है ।

उसका एक अंश यह है कि --" सब साले मरियल हैं, कोई हिम्मत ही नहीं करता कि इन "कुछ" को कत्ल कर दे या गोली मार दे ।····

इस देश को क्या चाटना है जिसकी मिट्टी भी बू देती है ।"[34]

"सर्पदंश" (रामदरश मिश्र) में हरिजन का लड़को अपने पिता की मौत के बाद चुप नहीं बैठता --" वह दूसरे गाँव की ओर भागा जा रहा था। अपने जाति भाइयों को सूचना देने । उस दिन उस गाँव का हरिजन नेता आया था और उसके बपई से कह रहा था कि जीने के लिए हमें एक होकर साँपों से लड़ना होगा ।"[35] इसीलिए "मंगली टिकुली"(भैरव प्रसाद गुप्त) में " मालिक का गुंडा किसी मजूर पर हाथ छोड़ता तो उस गुंडे की भी जल्दी ही मरम्मत हो जाती । मजूर खाली हाथ कभी न रहते । लाठी, हँसुआ, छुरा और कुछ नहीं तो एक लोहे का टुकड़ा जरूर उनके पास रहता था।"[36] " उसका फैसला"(डा॰ मोहरथ) में व्यवस्था का शिकार व्यक्ति भी बदला लेना चाहता है ।" बदला! टैनी का बदला ! सबका बदला! वह चोरी करेगा । खून करेगा। ठाकुर को मार डालेगा । दरोगा को चीर डालेगा । मिल मैनेजर का सिर फोड़ेगा।"[37] "मोह भंग"(मार्कण्डेय) में बंगाली छोकरा कहता है कि "ये बड़े-बड़े लोग ये पैसे और जमीन वाले लोग हम गरीब मजदूरों और हरिजनों को हमेशा धोखा देते रहेंगे । इनको खतम करना होगा, तभी कुछ हो सकेगा ।.... खून की होली मचेगी एक बार इस देश में...।"[38]

मगर दुर्भाग्य की बात है कि इस व्यवस्था परिवर्तन का क्रांतिकारी स्वर ठेठ बनावटी क्रांति के स्वरों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखता । इसका

कोई ठोस आधार, विचार और व्यवहार नजर नहीं आता । सिर्फ परिवर्तन के नाम पर उठा हूँकार इसे हम अवश्य स्वीकार सकते हैं ।तभी तो हम देखते हैं कि "क्रांति के सौदागर" बदीउज्जमा" में कहानी का नायक जो मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति है । क्रांति के नारेबाजी से वह कुल अनुकूल स्थितियों में अपना सम्पर्क समाज में जाने-माने व्यक्तियों के साथ स्थापित करने, अपना धंधा फैलाने धनी परिवार में शादी करने और प्रभावशाली लोगों पर अपना प्रभाव बढ़ाने में सफल तो होता है मगर उसके व्यवहार और कार्य से क्रांति की बू भी नहीं आती है । इसीलिए तो हम "संक्रांति"(सुशील शुक्ल) में भी संघर्ष के निर्णय के तुरन्त बाद संघर्ष के आहवान कर्ता को फुरसत का अहसास करते पाते हैं मानो क्रांति नहीं बल्कि क्रांति का निर्णय करके ही वह अपना कार्य पूरा करना चाहता है ।

उदाहरणार्थ कहानी में यह अंश आता है कि " लेकिन सिर्फ बातें करने से कुछ नहीं होगा । हमें कुछ, करना ही होगा । " शायद हम कुछ करना नहीं चाहते । " नहीं, नहीं । हमें निश्चय ही कुछ करना चाहिए। तुम सब कल मेरे साथ एक जगह चलो । वहाँ मैं हथियार दिलाऊँगा । बस हम संघर्ष शुरू कर देंगे ।

ठीक है हम चलेंगे । "

"तो यह तय पाया गया ।"

"बिल्कुल !!!" अब हम फुरसत से चाय पी सकते हैं ।"[39]

अत: जाहिर होता है कि आलोच्यकालीन कहानियों में खासकर 60 से 70 तक की कहानियों में तो सिर्फ विभिन्न तरह के राजनैतिक मूल्यों के विघटन को ही चित्रित किया गया है । हाँ सन् 70 से 80 तक की कहानियों में कुछ स्वस्थ, आदर्श और उच्च राजनैतिक मूल्यों के स्वर की अनुगूंज अवश्य है मगर मूल्य संक्रमण के इस दौर में वह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है । अगर कहीं भी किसी कहानी में समाजवादी, समतावादी न्यायवादी, चरित्रवादी और मानवतावादी मूल्यों का स्वर है तो वह धुंधलके में है । अत: हमें इन स्वरों को पहचानने की आवश्यकता है जिससे साहित्य समाज और राष्ट्र ही नहीं बल्कि पूरी मानवता का ही हित और लाभ जुड़ा हुआ है ।

आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य तथा मूल्य संक्रमण :

अगर देखा जाय तो धार्मिक मूल्यों का अस्तित्व सांस्कृतिक मूल्यों पर ही टिका हुआ होता है, क्योंकि धार्मिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्यों में ही समाहित होते हैं । हम जानते हैं कि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार होता है, जिसके द्वारा मानव पशुजगत से पृथक होकर सभ्य बन जाता है । व्यापक अर्थ में किसी समाज की जीवन-पद्धति ही संस्कृति होती है जिसमें उसकी कला, शिल्प, विश्वास मान्यताएँ, मूल्य, जीवन दर्शन, संस्कार, प्रथाएँ, धर्म आदि समाहित होते हैं यह बात भी सत्य है कि सामाजिक परिवर्तन के साथ ही संस्कृति भी परिवर्तित होती है । इसलिए सांस्कृतिक मूल्यों के साथ धार्मिक मूल्यों के स्वरूप में परिवर्तन भी अवश्यंभावी है ।

परंपरागत भारतीय संस्कृति, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से संचालित रही है क्योंकि परंपरागत सामाजिक गतिविधयों का मूल आधार धर्म ही रहा है और परंपरा में धर्म जीवन से अलग नहीं देखा गया । भारतीय जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धर्म के प्रति आस्था अपने आप में एकविशेषता रही है। इसीलिए कहा तो यह भी जा सकता है कि सांस्कृतिक मूल्य ही धार्मिक मूल्य रहा है क्योंकि भारतीय संस्कृति में धर्म का प्रगाढ़

सम्बंध रहा है । आज भी बदल रहे परिवेश व परिस्थितियों में धर्म की अवहेलना नहीं की जाती है । बल्कि, आधुनिक संदर्भ में धर्म का स्वरूप अवश्य बदला है । खासकर स्वातंत्र्योत्तर भारत में हमें हर क्षेत्र में संक्रमण दिखाई देने लगता है । इसीलिए धार्मिक मूल्य भी संक्रमित हुआ है । अब धर्म मात्र ईश्वर की कल्पना, पूजापाठ, वन्दना-अर्चना और कोरा विश्वास न होकर ठोस सचरित्र भावना भी समझा जाने लगा है। अत: कहा जा सकता है कि आज धर्म मानवीय हो गया है और मानव धर्म के रूप में स्वीकारा जाने लगा है । इसीलिए हमारी आज की संस्कृति भी उसी से निसृत हो रही है । यानि, कुल मिलाकर आज की सांस्कृतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य को हद तक समान ही स्वीकार किया जा सकता है । सामाजिक परिवर्तन के साथ हमारी परंपरागत संस्कृति, जहाँ धर्म ही सर्वोच्च और सर्वोत्तम सत्ता थी तथा जीवन के सभी मानदण्ड और मूल्य धर्म द्वारा ही निर्धारित होते थे । अब संस्कृति को पुरातन स्वरूप वाले धर्म से निर्धारित नहीं किया जाता है । बल्कि, धर्म अब मात्र जीवन का एक वैयक्तिक एवं ऐच्छिक अंश के रूप में समझा जाने लगा है क्योंकि विश्व के समाज और संस्कृति में अब व्यापक बदलाव हुआ है । मार्क्स की नजर में अगर धर्म अफीम साबित हुआ तो डार्विन ने विकासवादी सिद्धांत द्वारा धर्म की परंपरागत मान्यताओं के सामने चुनौती ही खड़ा कर दिया। यही नहीं नीत्शे जैसे लोगों की नजर में तो ईश्वर ही मर गया ।

यही कारण है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में संस्कृति के वे पुराने पहचान ही बदल रहे हैं । धर्म, जो परंपरागत समाज में कभी नीति एवं सत्य के विरूद्ध भी हो सकता था अब उसके नीति सम्मत सत्य रूप को ही प्रतिष्ठा मिलने लगी है । यही कारण है कि पहले राम द्वारा शंबुक की हत्या या कृष्ण द्वारा अर्जुन को उसे भाई की हत्या के लिए उत्प्रेरित करना धर्म के नीति सम्मत था जो सचमुच में "नीति" के विरूद्ध ही था । मगर आज किसी के द्वारा किसी की भी हत्या को धर्म की कोई "नीति नहीं" स्वीकार किया जा सकता । आज किसी ईशा को सूली पर नहीं चढ़ाया जा सकता और ना ही हमारे आज के धर्म में किसी गैलिलियो, कोलम्बस सुकरात या गांधी की हत्या को नीति सम्मत ठहराया जा सकता। क्योंकि, आज मानव धर्म का सम्बंध परलोक से न होकर इहलोक से होने लगा है । परम्परागत समाज में जहाँ ईश्वर के दण्ड का भय, स्वर्ग-नरक का विचार, कर्मफल का सिद्धांत तथा पाप-पूण्य की धारणा आदि के कारण ही मनुष्य बुरे कर्मों से बचने के लिए धार्मिक या सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाता था । अब वे सारी मान्यताएँ व पुराने धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य ढहने लगे हैं । अब तो मनुष्य असत्य, बुराई, अन्याय और अत्याचार से बचने के लिए सत्य, भलाई, न्याय और सदाचार से संबंधित मूल्यों तथा कर्मों को ही अपना धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य समझने लगा है ।

इसीलिए कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में

परंपरागत धार्मिक मूल्यों का स्वरूप विकृत हुआ है । वैज्ञानिक युग ने ने धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों और वाह्याडंबरों का पोल खोल दिया है । इसलिए तो धर्मपरिवर्तन, जिसकी पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी आज बेरोकटोक जारी है । मोक्ष के प्रति भी विचार बदले हैं तथा मृत्यु, पुर्नजन्म, कर्म, भाग्य, नियति, स्वर्ग-नरक, सुख-दुख और धार्मिक विधि-विधानों में भी काफी परिवर्तन आया है । मगर, समसामयिक यथार्थ को देखने से एक बात स्पष्टत: नजर आती है कि आज भी मनुष्य के सामने कोई निश्चित और ठोस मूल्य नहीं है क्योंकि वह वैज्ञानिक प्रगति के चकाचौंध में विभ्रमों के बीच जी रहा है और मूल्य संक्रमण के दौर में दिग्भ्रमित हो उहापोह के बीच बेचैन भरी जिंदगी जीने को विवश है क्योंकि " उसके सामने चारों ओर संकीर्णता, स्वार्थपरता, क्षुद्रता तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है । जीवन के हर क्षेत्र में मिलावट है । हर कदम पर बेईमानी और अवसरवादिता से सामना है । जीवन के हर क्षेत्र में नेतृवर्ग या तो स्वयं आपाधापी में पड़ा हुआ है या भीषण रूप से दिग्भ्रमित और मतिमूढ़ है । आदर्शशून्यता और मर्यादाहीनता का ऐसा युग बहुत दिनों बाद ही हमारे देश में अवतरित हुआ है । "[40]

"आज समाज से सत्य खण्डित हो रहा है, संघर्ष इतना कटु हो गया है कि आदमी अपने ही भीतर कई मौतें मर रहा है । मनुष्य विरोधी

संस्थाओं और रूढ़ एवं अंध परंपराओं द्वारा स्थापित वर्जनाओं ने मानवीयता का जबरदस्त अपहरण कर लिया है और मानव मूल्यों के सभी संदर्भ अंधी गुफाओं में भटक गये हैं।"[41] यही कारण है कि आज छोटे-मोटे धार्मिक विवादों से भी समूचा देश अस्त-व्यस्त हो जाता है। सरे आम मानवता की हत्या हो जाती है। साम्प्रदायिक दंगे की दहशत लोगों की मानसिकता को संकीर्णता की ओर धकेल रही है। क्योंकि धार्मिक पाखंडो, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के चक्रव्यूह में फँसा मानव अब भी लाचार, निरीह व मूल्यहीन होकर कष्टप्रद जीवन जीने की विवश है। इसीलिए तो मधुकर सिंह की कहानी "कीर्तन" में हम देखते हैं कि मुखिया निर्धन किसानों का "कीर्तन" के नाम पर शोषण करता है और इस पाखण्ड जाल में 'खुशी' इस तरह फँसता है कि घर में अन्न नहीं होने के कारण तो वह कीर्तन में नहीं जा पाता मगर आधी रात तक घर के आंगन में पड़ा वहाँ तक पहुँचने वाली कीर्तन की आवाज "जय सियाराम-जय-जय सियाराम" बुदबुदाते दम तोड़ देता है। लेकिन, इसी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश की कहानी " सिमटा हुआ दुःख (हिमांशु जोशी) में नायिका सोचती है कि " पिछले तीन हफ्तों से ये परेशान हैं, पल भर के लिए भी आँखे नहीं मूँदती। करवट ही करवट में रात बिता देते हैं। कहते हैं - " अब पूजा-पाठ में मन लगता।"[42]

अमरकांत की कहानी "परमात्मा का प्रेमी" में भी परमात्मा

पर विश्वास रखने वाले कलम घिस्सू संस्कारी बाबू हास्यास्पद बन जाते हैं । "प्रेत मुक्ति" (शैलेश मटियानी) में परंपरागत अशिक्षित किसनराम की भावनाओं का वर्णन है । पात्र केवलानंद धार्मिक संस्कारों से ग्रस्त वह उदार भी है और रूढ़िवादिता के मध्य वह संघर्ष करता है । तर्पण करके किसनराम की प्रेत आत्मा की मुक्ति करता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि वह दौर मूल्य संक्रमण का दौर है । अगर पौराणिक धार्मिक व सांस्कृतिक मान्यताओं, रूढ़ियों प्रथा-परंपराओं एवं रीति-रिवाजों को अस्वीकारा गया है तो बड़ी आसानी से हमें उन परंपराग्रस्त मान्यताओं और मूल्यों से बंधे जीवन का चित्र भी कई ऐक कहानियों में मिल सकता है । नए संदर्भ में मानवतावादी मानवधर्मी मूल्यों का उन्मेष भी इस संक्रांतिकाल में हुआ है । इसीलिए, आलोच्यकालीन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में हमें तत्कालीन सांस्कृतिक व धार्मिक मूल्यों की अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि, संक्रमित हो रहे मूल्यों की स्थिति का भी आभास मिलता है ।

अगर हम ईश्वरीय सत्ता में विश्वास की ही बात पर ध्यान दें तो आलोच्यकालीन कहानियों में हमें दोनों तरह की बातें देखने को मिल जायेगी- एक आस्थावादी और दूसरी अनास्थावादी । इसके अतिरिक्त आस्था और अनास्था के बीच भटक रहे पात्र भी हमें कहीं-कहीं

दिखाई पड़ जाएंगे क्योंकि तब इनसे संबंधित मूल्यों में भी संक्रमण होने लगा था । तत्कालीन कहानियों में हम पाएंगे कि ईश्वरीय सत्ता में अभी भी मनुष्य की आस्था बनी हुई है । आज भी मनुष्य के आशा-निराशा तथा उसके अच्छे और बुरे कर्मों में ईश्वर की आस्था का प्रश्न सामने आ जाता है । इसीलिए तो महीप सिंह की कहानी " लोग" की नायिका, जो अत्याधुनिक आत्म निर्भर और कर्मठ पात्र है । वह अपनी निर्माता और नियंता स्वयं है । मगर, अपने अकेलेपन और बेसहारा होने के अहसास में ईश्वरीय आस्था उसे शक्ति और सहारा देती है । वह कहती है कि " हर एक को सहारे की जरूरत होती है.. ..एवरीबाडी नीड्स इट .... आई विलीव इन गाड.....।" [43]

गंगा प्रसाद विमल की कहानी " वह आदमी " में भी एक पात्र नास्तिक होकर भी आस्था नहीं खोता है । बल्कि, वह कहता है कि "मैं काफी हद तक नास्तिक हूँ, लेकिन बराबर मुझे कल्पना में आपकी माँ से अच्छे सन्देश मिलते रहे । मैंने अपने जीवन के अमूल्यवर्ष उस काल्पनिक संकेत के सहारे ही बिताए हैं ।" [44]

इसी प्रकार मोहन राकेश की कहानी " परमात्मा का कुत्ता" में नायक कहता है कि " मैं परमात्मा का कुत्ता हूँ । उसकी दी हुई हवा खाकर जीता हूँ और उसकी तरफ से भौंकता हूँ । उसका घर इंसाफ का घर

है । मैं उसकी रखवाली करता हूँ। तुम सब उसे इंसाफ की दौलत के लूटेरे हो । तुम पर भौंकना मेरा फर्ज है मेरे मालिक का फरमान है । मेरा तुमसे असली बैर है । कुत्ते का कुत्ता बैरी होता है । तुम मेरे दुश्मन हो, मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ । मैं अकेला हूँ इसलिए तुम सब मिलकर मुझे मारो । यहाँ से निकाल दो । लेकिन मैं फिर भी भौंकता रहूँगा । तुम मेरा भौकना बंद नहीं कर सकते । मेरे अंदर मेरे मालिक का नूर है, मेरे वाहगुरू का तेज है ।"[45]

देवेन्द्र इस्सर की कहानी " पुरानी तस्वीर नए रंग " का एक पात्र भी कहता है कि " मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं लेकिन मैंने बिजली के खम्भे के नीचे दीवार की परछाई में और पेड़ की छाया में ऐसाआलोक देखा है जो सिवाय ईश्वर के और कोई प्रदर्शित नहीं कर सकता ।"[46]

जाहिर है कि ईश्वरीय आस्था के प्रति पारंपरिक दृष्टिकोण जो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में बरकरार है की अभिव्यक्ति इन कहानियों में हुआ है । मगर युगीन परिवर्तन के फलस्वरूप इस दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन भी आने लगा है । अब पारंपरिक धर्मवादी ईश्वर की भावना का लोप भी होने लगा है । इसीलिए गिरिराज किशोर की कहानी " एक ईश्वर की मौत " में नायिका कहती है कि " ईश्वर तुम्हारी मदद करेंगे— बात मेरे कानों में गूंजती रही और मैंने उस बात पर विश्वास करना चाहा, परन्तु मैं उस पर हँस भर सका ।"[47]

सुधा अरोड़ा की कहानी "निर्मम" में तो ईश्वरीय आस्था का परिस्थितिवश समापन का परिदृश्य देखने को मिलता है । जहाँ कहानी में दर्शाया गया है कि " पहले जब यह बीमार होती थी, हमेशा आस्तिक हो जाया करती थी और अपने सामने भगवान की एक कल्पित मूर्ति रख कर बच्चों की तरह आँखों में आँसू भरकर बड़ी श्रद्धा से प्रार्थनाएँ किया करती थी कि अगर उसकी बाँह ठीक हो गई वह फलाँ मंदिर में प्रसाद चढ़ायेगी और उसे विश्वास हो जायेगा कि भगवान नाम की कोई सत्ता सचमुच है ।..... पर इतने विश्वास के बावजूद भी जब कुछ नहीं हुआ, उसने ईश्वर को मानना छोड़ दिया था और उसे ईश्वर से ज्यादा "स्पेस-मिंडन" की गोलियों पर विश्वास हो गया था ।"[48]

यहाँ स्पष्ट होता है बदले हुए परिवेश में व्यक्ति ईश्वरीय आस्था को भी तर्क और विचार में तौलकर उसकी व्यर्थता का बोध कराने को आतुर हो गया है । ईश्वरीय संबंधी आस्था के दोनों आस्थावादी और अनास्थावादी दृष्टिकोणों में बदलाव होने का आभास इन कहानियों में मिलता है क्योंकि वह काल ही इन मूल्यों के संक्रमण का काल है ।

राम दरश मिश्र की कहानी " एक औरत एक जिन्दगी " में इसी तथ्य को दर्शाया गया है । इसमें न तो ईश्वर को पूरी तरह से अस्वीकारा

गया है और नाही परंपरागत रूप में उसका अंधास्वीकार है । ईश्वर पर आस्था का स्वर नायिका के शब्दों में मुखरित हुआ है जहाँ वह कहती है कि " नहीं बाबा वह लड़का है भगवान इसे जियादे और आदमी बना दे । इसी आशा पर तो जिन्दगी से लड़ रही हूँ ।"[49]

मगर इसी कहानी में हम देखते हैं कि ईश्वर की कृपा दृष्टि पर विश्वस्त होकर चुपचाप बैठने की प्रवृत्ति का खंडन हुआ है । ईश्वरीय चमत्कार और वरदान का कोई अर्थ नहीं रह गया है । यही नहीं बल्कि मृतात्मा के लिए पूजा-पाठ, दान-बंदन की भी निरर्थकता अभिव्यक्त की गई है । कहानी में विधवा भवानी मृतपति के नाम पूजा-पाठ का बंधन तोड़कर अपने खेत बचाने के लिए चल पड़ती है । वह कहती है कि "हाँ, ठीक कहती हो काकी जी, मैं पूजा-पाठ में मन लगाऊँ, गाँव वाले मेरी खेतीवारी में मन लगावे और एक दिन पूजा से जगकर पाऊँ कि मेरे खेत पट्टीदारों के नाम हो गए हैं और मैं अपने बच्चों के लिए भिखारिन सी रास्ते पर खड़ी हूँ । " इससे उनकी आत्मा को शांति मिलेगी न।"[50]

इसी तरह गिरिराज किशोर की कहानी " पोली सड़क" में भी नायक को किसी भी कामना के लिए भजन-पूजा और ईश्वर की मनौतियों के विश्वास में निरर्थकता का बोध होता है क्योंकि नायक कहता है कि "सड़क पर आकर · ···· जब अपने होटल की ओर बढ़ने लगा तो मुझे

महसूस हुआ कि आगे की पूरी सड़क पोली हो गई है ।····· उसपर चलने का अर्थ है दलदल में धँसते चले जाना ।"[51]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में धार्मिक पाखंडो-अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का बोलबाला नहीं रहा । बल्कि, हम देखते हैं कि ब्रह्मचर्य, वैराग्य, अनासक्ति, अवतारवाद, भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ आदि से संबंधित पुराने सिद्धांत तथा आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाने वाली अवधारणा का खुलेआम विरोध होने लगता है । इसीलिए आलोच्यकालीन कहानियों में इनसे संबंधित मान्यताओं एवं मूल्यों के प्रति व्यंग और विरोध का स्वर सुनाई देता है ।

गंगा रत्न पाण्डेय की कहानी " काया कन्या" में योग साधना के नाम पर होने वाले अमानवीय कृत्यों पर गहरा व्यंग किया गया है । कहानी में बुद्धि धर्म सोलह वर्षीया लीला को उसकी ईच्छा के विरूद्ध साधन की मुद्राधारिणी बनाकर ले जाता है । उसे प्रश्न करने का भी अधिकार नहीं होता । लेकिन, लीला की सजीव जड़ता और गूढ़ स्थिरता, साधना पर पानी फेर देता है। साधक सौन्दर्योपासक बन जाता है । भोग की कुंठा उसे हिंसक बना देता है । कहानी में लीला पूछती है कि —"तुम्हें मेरे जीवन से यह पैशाचिक प्रयोग करने का क्या अधिकार था ? साधना सिद्धि की ओट में वासना तृप्ति की नाटकीय लीला ।मूर्त पाखण्ड····।"[52]

विश्व में हुए व्यापक बदलाव से मानवीय चेतना वैज्ञानिकता से प्रभावित हुई तथा मानवीय दृष्टिकोण में तार्किकता का समावेश हुआ । फलत: अब जीवन के संदर्भ में तर्क संगत वैज्ञानिक व्याख्या तथा विश्लेषण का बोल-बाला हो गया । इसीलिए, यशपाल की कहानी "ज्ञानदान"में तपोवन के साधक, ब्रह्मचारी नीड़क और ब्रह्मचारिणी सिद्धि के माध्यम से त्याग योग, सुःख-दुःख, साधना तथा जीवन-मृत्यु की जीवन के संदर्भ के रूप में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पुर्नव्याख्या की गई है । कहानी में ब्रह्मचारी नीड़क चील के जोड़े को देखता है, जो जीवन और जन्म के कर्म को निरंतर बनाये रखने के उपक्रम में लगा हुआ था । तभी उसे अपनी ब्रह्मचर्य साधना की निस्सारता का बोध होता है । वह कहता है कि " जीवित रहकर जीवन क्रम का विरोध" आत्मदर्शी ऋषियों के क्थन "जीवन दुःख का बंधन है और जीवन का उद्देश्य इस बंधन से मुक्ति प्राप्त करना है ।"[53]

इसी तरह स्वातंत्र्योत्तर भारत में लोग धार्मिक अंध विश्वासों के प्रति भी सजग हुए तथा वे व्यावहारिक सत्य पर ज्यादा ध्यान देने लगे क्योंकि लोगों को ऐहसास होने लगा कि इन्हीं धार्मिक अंधविश्वासों के चलते उनके विकास के मार्ग अवरूद्ध हुए हैं । इसीलिए, गंगारत्न पाण्डेय की कहानी " पंच रत्न धन " में दिखाया गया है कि बैद्यराज पंडित काशीनाथ दीक्षित भक्ति और साधना की ढोंग की आड़ में सीधे साधे

देवी दत्त की जमीन और पत्नि दोनों को हड़प लेता है । पूजा-पाठ की आड़ में ही वह राजा शिवराम की पुत्री को धन और सोने,चाँदी के गहनों के साथ भगाकर ले जाने में सफल हो जाता है ।

महीप सिंह की कहानी "दर्द" का महात्मा भी अपनी तथा-कथित अलौकिक शक्ति से लोगों के रोगों का ईलाज करता है । नायक की पत्नी भी ऐसे ही साधु की कृपा पर गहरा विश्वास करती है । किन्तु उसका पुराना दर्द ठीक नहीं होता और वह अपने बुरे कर्मों को कोसती है । पति की अनास्था को कोसती है । श्रद्धालुओं की अबोधता और मूढ़ता तथा उससे लाभ उठाने वाले साधु संतो की धूर्तता की अनुभूति में नायक कहता है कि " रात को मुझे नींद नहीं आई । ऐसा लगा कहीं दर्द हो रहा है। अधसोई हालत में मैं सोचता रहा, दर्द कहाँ हो रहा है -- यह रात भी बराबर कसमकस में गुजर गई । मेरी समझ में कुछ नहीं आया । दर्द बराबर होता रहा ।"[54]

गंगा रत्न पाण्डेय की ही एक कहानी "डगमग पाँव" में एक योगी वैरागी साधु की स्त्री और परिवार की सुख की स्वाभाविक ईच्छा कैसे बलबती हो उठती है और वह पूरी तरह से साधारण व्यक्ति कैसे हो जाता है, को दर्शाया गया है । कहानी में कुछ योगी-वैरागी ऐसे भी थे "अनबोले बाबा थे । पीतमपुर में कुछ दिन मौन साधा, अन्न छोड़ दिया।

सब कुछ किया । आखिर में धनैय्या अहीर की विधवा को घर बैठा लिया । गृहस्थी बना बैठे । बनवीर बाबा को देखा - पुरखों की सारी सम्पत्ति साधुओं में लुटा दी । पराग राज चले गये, दस बरस में लौटे तो कान्हपुर के लोगों ने देवता मानकर पूजा । पर चार ही बरस में फिर बदले, सलीम गंज से एक औरत भगा लाए, गिरस्ती सँभाली और मुकदमेंबाज बन गये ।"[55]

इसी तरह धर्मवीर भारती की कहानी " मरीज नं0 9" और "भूखा ईश्वर " में दिखाया गया है कि ईश्वर और अवतार के नाम पर समाज में किस तरह ढोंग तथा पाखण्ड पनपता है । " भूखा ईश्वर" का व्यक्ति स्वार्थ के पीछे अंधा होकर अत्याचार करता है । मरीज व्यक्ति में स्वार्थता की भारी गंध है । अधेड़ बुढ़िया मरे और पंखे वाली बेड उसे मिले । बुढ़िया के मरने से मरीज खुश है और नर्स भी । सचमुच गरीबों के लिए आज भी ईश्वर भूखा है । जज सेठ के डिनर में जाने के लिए उसे सजा सुना देता है । " और ईश्वर अब कैद है..... और उस पर सेठ के नौकरों का पहरा है ।"[56]

एक बात यही द्रष्टव्य है कि शहरीकरण व औद्योगीकरण से मनुष्य की चेतना तार्किकता से ओतप्रोत होती गई । साथ ही व्यक्ति पूँजीपतियों के चक्रव्यूह में फँसकर आर्थिक तंगी का शिकार होता गया । इसीलिए,आर्थिक

तंगहाली ने भी लोगों को धार्मिक कर्मकाँडो से दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । इसलिए आलोच्यकालीन कहानियों में हम देखते हैं कि धार्मिक कर्मकांडो से लोगों की कुछ तो आस्था ही उठ गई क्योंकि आर्थिक असमर्थता ने उसको अर्थहीन कर दिया ।

इसीलिए तो बदीउज्जमा की कहानी " मिटते सार " में दिखाया गया है कि मुस्लिम जीवन के कर्मकांड सम्पन्न करने वाला मौलवी इसहाक भी धार्मिक जीवन में परिवर्तन के साथ बेरोजगार हो गया है । उसे लगता है कि " उनकी और वली मुहम्मद की कहानी बिल्कुल एक सी है दोनों ही पुराने हो चुके हैं -- दोनों ही नये जमाने के लायक नहीं रहे ।"[57] क्योंकि वली मुहम्मद पुराना दर्जी है । उसका और मौलवी इसहाक का धंधा मंद हो गया है - बदलते समय की दौड़ में वे पिछड़ गए हैं । मौलवी इसहाक बदलती दुनियाँ को देख रहे हैं, " अब लोग फिल्में ज्यादा देखते हैं, मीलाद कराने वाले तो अल्लाह को प्यारे हो गये । थोड़े बहुत लोग जिन्दा है, उनकी हालत इतनी खस्ता है कि मीलाद का खर्च बरदाश्त नहीं कर सकते ।"[58]

इसी तरह हिमांशु जोशी की कहानी " सिमटा हुआ दुख " में नायिका कहती है कि " पिछले तीन हफ्तों से वे परेशान हैं, पलभर के लिए भी आँखे नहीं मुँदती । करवट ही करवट में रात बिता देते हैं ।

कहते हैं —" अब पूजा-पाठ में मन नहीं लगता । इतनी जिम्मेदारियाँ हैं । इतने - इतने खाने पीने वाले बच्चे हैं, इनका क्या होगा ? रात भर पागलों की तरह बड़बड़ाते- बुदबुदाते रहते हैं । उनका दुख अब देखा नहीं जाता ।"[59] इसी तरह, शिव प्रसाद सिंह की कहानी "कलंकी अवतार " में भी हिन्दू धार्मिक जीवन की परिवर्तित स्थितियों एवं मूल्यों की अभिव्यक्त किया गया है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में नैतिकता के स्वरूप में भी बहुत परिवर्तन आया है । परम्परागत समाज में धर्म और नीति लगभग एक ही था । मगर वह वैसा नहीं रह पाया । परंपरागत अनैतिक धार्मिक कार्यों का भी उदाहरण मिल जाता है साथ ही नैतिकता को भी कभी-कभी अधार्मिक घोषित किया गया है । मगर अब मानवधर्म नैतिकता के विरुद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि आज मानव धर्म नीति को अपनाकर चलने की वकालत करता है । इसीलिए, परंपरागत धर्म की अपेक्षा यह व्यक्ति के अधिक निकट ठहरता है । हम देखते हैं कि परंपरागत नैतिकता ने एकलव्य को द्रोणाचार्य की सीधी शिक्षा से वंचित कर दिया और मीरा को कुलटा कलंकनी घोषित कर दिया । क्योंकि परंपरागत नैतिकता ने मानव पर हमेशा अंकुश लगा कर रखा । धर्म तथा नैतिकता की नीति संबंधी विधि विधान में व्यक्ति को परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं था । पर आधुनिक युग में परंपरागत नैतिकता का हौवा हवा हो गया है । मानव

अब सुविधानुसार नीति विधान के लिए स्वतंत्र है । नई नैतिकता मनुष्य को अब कहीं से रोक-टोक नहीं करती बल्कि उसके सत्यनिष्ठ कार्यों का समर्थन करती है । तभी तो " एक जिन्दगी एक औरत " (राम दरश मिश्र) की विधवा भवानी परंपरागत पूजा-पाठ का बंधन तोड़कर अपने खेत बचाने को चल देती है । ईश्वर में विश्वास में रखते हुए भी वह समाज के सारे आतंक और विरोध के बीच मुस्कराकर जूझती है । वह समाज के झूठे, खोखले आदर्शों की भत्सर्ना करती है । धनपति उसके खेतों में आग लगा देता है वह उसके खलिहान में आग लगाने जाती है । जब उसे लोग रोकते हैं तो वह चुनौती देती हुई कहती है कि " क्यों मुझी को रोकने को वीर बने हैं ? आप लोग । धनपति को रोकने में डर लगता है ? आपका इंसाफ कमजोर के लिए है ? भवानी सब समझ गयी । पंचायत में नालिश करना व्यर्थ था क्योंकि वहां भी ये ही न्यायमूर्तियां बैठती है जो सत्य को जानबूझकर कहने का भी साहस नहीं कर सकती ।"[60]

अत: इस कहानी में हम देखते हैं कि भवानी ब्राह्मण कुल की विधवा होकर " जमीन की परतें तोड़ रही है···· और ब्राह्मण आभिजात्य की जमी हुई सतहें तोड़ रही है····· नये बीज उगाने के लिए ।"[61]

इसीलिए " बीच के लोग " (मार्कण्डेय) में यह स्वर उभरता है कि "अच्छा हो कि दुनिया को जस का तस बनाये रखने वाले लोग

अगर हमारा साथ नहीं दे सकते तो बीच से हट जायें, नहीं तो सबसे पहले उन्हीं को हटाना होगा क्योंकि जिस बदलाव के लिए हम दृसाथ रोप हुए हैं, वे उसी को रोके रहना चाहते हैं।"[62] आज मनुष्य का प्रेम कोई भी आध्यात्मिक अवरोध नहीं मानता इसीलिए मन्नू भंडारी की "सजा" में दर्शाया गया है कि " प्रेम की स्मृति कल्पना और आध्यात्मिक भावना पर जिन्दा नहीं रहती, वह जीवन की पूर्णता के लिए प्रेम करता है जीवित रहने का प्रयत्न करता है, वह वियोग को झेल लेता है, अथवा सह लेता है।"[63]

शिव प्रसाद सिंह की कहानी "कर्मनाशा की हार " में भी नैतिकता का आधार मानव को स्वीकार किया गया है। मानवेतर का भय प्रकोप आदि के अंधविश्वास में से नैतिकता का आधुनिक बोध जन्म ले रहा है। कहानी में विधवा फूलमतिया पुत्र को जन्म देती है। उसका प्रेमी भैरों पाण्डे का बेटा कुलदीप समाज में बदनामी और पिता की कुल मर्यादा और प्रतिष्ठा के लिए हत्थमों से डरकर गाँव छोड़ कर भाग जाता है। गाँव के लोग फूलमतिया को, उसके तथाकथित पाप को कर्म नाशा नदी की बाढ़ का कारण बताते हैं और बाढ़ से बचने के लिए फुलमतिया और उसके पुत्र की बलि मात्र ही गाँव वालों की समझ में एक मात्र उपाय होता है। इसीलिए इस शुभ धार्मिक कार्य की तैयारी भी अंधविश्वासी और रूढ़ समाज ने कर लिया था। मुखिया कहता है कि -

" सारे गाँव ने फैसला कर दिया -- एक के पाप के लिए सारे गाँव की मौत के मूँह में नहीं झोंक सकते जिसने पाप किया उसका दण्ड भी वही भोगे ।"[64]

किन्तु भैरों पाण्डेय अपनी कुल मर्यादा की प्रतिष्ठा का झूठा मोह छोड़कर फूलमतिया के बच्चे को गोद में ले लेता है और बदलती हुई नैतिकता में उत्पन्न हो रहे नवीन मानवीय बोध के कारण वह गाँववालों से कहता है कि " तो सुनो, कर्मनाशा की बाढ़ दूध मुहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रूकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बाँधों को ठीक करना होगा..... मै आपके समाज की कर्मनाशा से कम नहीं समझता । किन्तु मैं एक-एक के पाप गिनाने लगूँ तो यहाँ खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा.... है कोई तैयार जाने को .....है कोई तैयार जाने को ....।[65]

अत: आलोच्यकालीन कहानियों में हम देखते हैं कि मानवीय नैतिक बोध समाज परिवार व्यवस्था और व्यक्ति के आर्थिक, नैतिक शोषण के विरुद्ध स्वर में अभिव्यक्त हुआ है । पूँजीवादी सभ्यता ने चाहे लाख मूल्यों को तहश-नहश कर दिया हो, मगर वर्तमान युग की आवश्यकता के रूप में मानवतावादी मूल्यों को अवश्य स्वीकार किया है । कहातो यह भी जा सकता है कि मानवतावाद पूँजीवाद की ही देन है।इसीलिए

आज " मानवता का आधार धर्म है मानव धर्म । मानव धर्म का सम्बंध ईश्वर से न होकर मानव से है । यह परलोक पर आधारित न होकर इस लोक पर आधारित है । दया, करूणा, संवेदना आदि मानवीय गुणों को विश्व में पुन: महत्व दिया जाने लगा । सचेतन जगत में मानव सर्व-शक्तिमान है । वह अपने अनुसार समाज का निर्माण करता है । अत: व्यक्ति की सत्ता ही महत्वपूर्ण बन गई है ।

वस्तुत: मानवतावाद न तो किसी प्रकार का धर्म है न ही इसकी गिनती किसी दर्शन में की जा सकती है । मानवतावाद को बाद विशेष के घेरे में आबद्ध करना भी इसके वृहतक्षेत्र को संकीर्ण करना है। यह मानवीय चेतना एवं व्यावहारिक ज्ञान से परिपूर्ण संस्कृति है, जिसका आधार मानवमूल्य है । मानव मूल्यों की रीढ़ मानवीय गुण है । मानवीय गुणों का सम्बंध किसी भौगोलिक क्षेत्र, काल, जाति, अथवा वर्ग विशेष न होकर अखिल सृष्टि से है ।

अत: मानवतावाद का क्षेत्र संपूर्ण मानव सृष्टि है । मानवतावाद किसी भी प्रकार के सिद्धांत या मताग्रह से रहित है । मानव सत्यों एवं मानव मूल्यों पर मानवतावाद की विशाल दृष्टि आधारित है । मानवतावाद के वृहत परिवेश में धर्म, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय राष्ट्र आदि की संकुचित सीमाएँ विशृंखलित हो चुकी हैं। अब किसी भी पहलू पर सम्पूर्ण

मानवता को लेकर विचार किया जाता है । व्यक्ति की दृष्टि में फैलाव आया है । इसपर भी मानवतावाद का प्रयोग दिखावे के रूप में अधिक हो रहा है । यह अभी विचार जगत में ही अधिक है । व्यवहार जगत में इसे अभी पूर्ण स्थान नहीं मिला है । यही कारण है कि विश्व का वातावरण आज भी तनाव पूर्ण है । "[66]

इसीलिए, मधुकर सिंह की कहानी "कीर्तन" में गाँववाले निर्धनों का शोषण मुखिया " जय सियाराम जय-जय सियाराम " के नाम पर कर लेता है । कमलेश्वर की " मांस का दरिया " में जुगनू जैसी स्त्रियाँ शोषित होकर दूषित जीवन जीने को मजबूर है, जिन्हें शिकायत और विरोध का अधिकार भी नहीं है । अपने आंतरिक नैतिक आग्रहों को वह वेश्यालय में रुग्ण शरीर से ही पूरा करने को विवश होती है और पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक पुरुष समाज उसके लिए और भी अमानवीय हो उठता है ।

मगर अपने क्षीण रूप में ही सही हम मानवतावादी मूल्यों की अनुगूंज भी आलोच्यकालीन कहानियों में किसी न किसी मात्रा में अवश्य पाते हैं । तभी तो महीप सिंह की कहानी " पानी और पुल " में भी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हुए देश के विभाजन और भीषण नर संहार के बीच प्रकट होने वाली मानवीयता की संस्कृति का हम जन्म पाते हैं ।

इसमें पुल साम्प्रदायिक सम्बंधों की उपरी कठोरता का प्रतीक है जिसे कुछ मूल्यहीन स्वार्थी लोगों द्वारा तैयार किया गया है । मगर यहाँ भी हम देखते हैं कि मानवीय नैतिकता और मानवता प्रेम और जीवन में प्रकट होती है न कि घृणा और मृत्यु में ।

नमिता सिंह की कहानी " यह नहीं " में भी दिखाया गया है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में काफी सद्भाव रहता है । वे एक दूसरे के संकटों में सही अर्थों में साझीदार होते हैं । दोनों ही परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हैं । यहाँ भी प्रेम, भाई चारा, सद्भाव और सहयोगी भावना जनित धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्य, जो मानवतावादी मूल्य भी है, को अभिव्यक्त किया गया है । दुर्भाग्यवश स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में खासकर, साठ से सत्तर तक मूल्य विघटन को दर्शाने का कार्य हुआ है और अगर सत्तर से बाद जनवादी कहानी आदि के नाम से कुछ मानवतावादी मूल्यों को दर्शाने की स्थिति है तो वह भी छिटपुट या वैचारिक ही अधिक है । दरअसल अपने समाज में जहाँ सांस्कृतिक मूल्यों में विशेषत: मानवतावादी मूल्यों की नितांत आवश्यकता है वहाँ साहित्य के किसी भी विधा द्वारा मूल्यों के सही संप्रेषण की महत्वपूर्णता स्वयं सिद्ध है क्योंकि " सही रचना में संप्रेषणीयता विद्यमान रहती है। जिसकी वजह से यह पाठक की व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया को तेज करती है । इस तरह एक सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में सहायक होती है ।"[67]

इस मूल्यों के संप्रेषण के सवाल पर स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को देखने से यह स्पष्ट है कि वह एक सीमा तक इस में सफल सिद्ध हुई है। तभी तो हमारे मूल्यों के परिवर्तित स्वरूप एवं मूल्य संक्रमण को जानने के लिए इन कहानियों के अध्ययन की सार्थकता सिद्ध हुई है क्योंकि "मानवीय मूल्यों के संदर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभिमान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है।"[68] इसीलिए हम स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी साहित्य द्वारा जान रहे हैं कि "पुराने समाज का जहाँ ढाँचा बदला है वहाँ नये मूल्यों की स्थापनाएँ भी स्वाभाविक सी हो गई हैं। ..... नये मूल्यों की स्थापना से जीवन को देखने की हमारी दृष्टि में भी परिवर्तन अवश्यंभावी हो गया है। जीवन के प्रति हमारा दर्शन भी बदला है। एक प्रकार से जीवन दर्शन को नये धरातल पर लाकर नई व्याख्याओं द्वारा समझा जा रहा है।"[69]

xxx

संदर्भ सूची

01. सिक्का बदल गया, सं. डा. नरेन्द्र मोहन, पृ0 12

02. Social Change in India: B. Kuppuswami P. 339

03. परिप्रेक्ष्य और प्रतिक्रियाएँ, डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ0 117

04. नयी कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृ0 120

05. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन (सन् 1950 से 1975 तक), कौंता (अलीगढ़) मेहंदीरत्ना पृ0 80

06. अनित्य, बदीउज्जमा, पृ0 105

07. ये तेरे प्रतिरूप, अज्ञेय, पृ0 70

08. सिक्का बदल गया, सं.डा. नरेन्द्र मोहन, पृ0 176

09. युद्ध की तेरह श्रेष्ठ कहानियाँ, सं. मनहर चौहान, पृ0 85

10. जनता और साहित्य, शैलेश मटियानी, पृ0 11

11. धरती अब भी घूम रही है, विष्णु प्रभाकर, पृ0 5

12. हिन्दी कहानी बदलते प्रतिमान, डा. रघुवर दयाल वार्ष्णेय, पृ0146

13. तिलस्म, शरद जोशी, पृ0 118

14. एक दुनियाँ समानान्तर, राजेन्द्र यादव, पृ0 376

15. वही वही वही

16. वही वही पृ. 377

17. कुछ और कितना, महीप सिंह, पृ. 131

18. थके हारे, सतीश जमाली, पृ. 51

19. यारों के यार, कृष्णा सोबती, पृ. 65

20. जहर, श्रवण कुमार, पृ. 34

21. वही वही पृ. 143

22. संचेतना, अंक-33 (1975) सं. डा. महीप सिंह, डा. हरदयाल, पृ. 13

23. समझौता, मुक्तिबोध

24. पुल टूटते हुए, बदीउज्जमा, पृ0 43

25. सतह से उठता हुआ आदमी, मुक्तिबोध, पृ0 132

26. सप्तांशु, कहानी विशेषांक, सं. परमानंद गुप्त, पृ0 181

27. वही वही वही

28. चक्रव्यूह, सिम्मि हर्षिता

29. सारिका (जुलाई) अंग -2, 1977, पृ0 23

30. संचेतना, अंक-33 सं. डा. महीप सिंह , पृ0 33

31. वही अंक-27 वही पृ. 29

32. खालीघर, राम दरश मिश्र, पृ0 49

33. वही वही पृ. 43

34. हिन्दी कहानी, आठवाँ दशक, मधुर उपेती, पृ0 41

35. वही वही वही

36. वही वही वही

37. वही वही पृ. 43

38. वही वही पृ. 44

39· युवा कथाकार, सं· कुलदीप बग्गा, डॉ· तारक नाथ वाली, पृ·96

40· अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन , पृ· 192

41· हिन्दी उपन्यास, सुरेश सिन्हा, पृ0 142

42· हिन्दी कहानी आठवाँ दशक, मधुर उपेती, पृ0. 138

43· घिराव, महीप सिंह, पृ0 37

44· कोई शुरूआत, गंगा प्रसाद विमल, पृ0 124

45· मेरी प्रिय कहानियाँ, मोहन राकेश, पृ·51

46· काले गुलाब की सलीब, देवेन्द्र इस्सर, पृ· 101

47· चार मोती बेआब, गिरिराज किशोर, पृ·

48· बगैर तराशे हुए, सुधा अरोड़ा, पृ· 13

49· खालीघर, रामदरश मिश्र, पृ· 153

50· वही वही पृ· 155

51· चार मोती बेआब, गिरिराज किशोर, पृ· 45

52· काया कन्था, गंगारत्न पाण्डेय, पृ·34

53· मेरी प्रिय कहानियाँ, यशपाल, पृ· 39–43

54· घिराव, महीप सिंह, पृ· 62

55· काया कन्था, गंगा रत्न पाण्डेय, पृ0 60

56· साठोत्तर हिन्दी कहानी, मूल्यों की तलाश, डा· वासुदेव शर्मा, पृ·67

57· अनित्य, बदीउज्जमा, पृ· 76–77

58· वही वही पृ· 77

59. हिन्दी कहानी आठवाँ दशक, मधुर उपेती, पृ. 138

60. खालीघर, रामदरश मिश्र, पृ. 160

61. वही वही पृ. 151

62. हिन्दी कहानी आठवाँ दशक, मधुर उपेती, पृ0 43

63. मैं हार गई, मन्नू भंडारी, पृ. 118

64. मेरी प्रिय कहानियाँ, शिव प्रसाद सिंह, पृ. 136

65. वही वही पृ. 37

66. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, पृ0 15

67. कविता और संघर्ष चेतना, डा. यश गुलाटी, पृ. 15

68. मानव मूल्य और साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 155

69. रसबंती, अगस्त 1964, रघुवीर सिंह, पृ0 45

xxxx

उपसंहार

प्रस्तुत लघुशोध प्रबंध में शोध का महत्वपूर्ण आधार मानव मूल्य संक्रमण है । मानव मूल्य संक्रमण को लेकर कथा साहित्य का विवेचन हिन्दी साहित्य में विरले ही प्राप्त हो सकता है । खासकर हिन्दी आलोचना में मूल्यों की दृष्टि से समीक्षा का कार्य अब तक बहुत ही कम हुआ है। जबकि आज इस मूल्य संक्रमण के दौर में समीक्षा हेतु यह अपेक्षित है । इसीलिए मूल्य परक समीक्षा के लिए यह लघु शोध प्रबंध काफी सार्थक सिद्ध हो सकता है।

हम देखते हैं कि मूल्य संक्रमण से आज न केवल जीवन बल्कि हमारा साहित्य भी काफी प्रभावित हो रहा है । जीवन और साहित्य का "सत्य" इस दौर के धुंधलके में खोता जा रहा है । कौन सा और कैसा जीवन व साहित्य आज हमारे लिए उपयुक्त होगा -- यह बहुत ही अहम सवाल सिद्ध हो गया है । अत: साहित्य और जीवन के सत्य, उच्च और आदर्श अस्तित्व को पहचानने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि मूल्य संक्रमण को अच्छी तरह से समझा और जाना-पहचाना जाय ।

आज जीवन के हर क्षेत्र में ही मूल्यसंक्रमण बरकरार है ।इसीलिए मूल्य संक्रमण को जानने के लिए जीवन के विभिन्न कर्मों, स्थितियों मानदण्डों घटनाओं एवं भौतिक-अभौतिक तथ्यों पर विभिन्न तरह से विचार किया जा सकता है । मगर, साहित्य जो किसी भी काल व परिवेश की स्थितियों,

घटनाओं, विचारधाराओं एवं कार्य व्यवहारों को किसी न किसी स्तर पर अपने अस्तित्व के साथ समावेशित किए रहता है, के अध्ययन विवेचन द्वारा हम किसी काल विशेष के मूल्यों तथा मूल्य संक्रमण के स्वरूप को पहचान सकते हैं क्योंकि साहित्य, समाज का दर्पण होता है जिसमें युगीन यथार्थ का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है । कहानी आज साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा साबित हो चुकी है । इसीलिए इसमें मूल्यों एवं मूल्य संक्रमण के वर्णन व विवेचन की काफी गुंजाइश है । अत: प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध में कहानी साहित्य के सन्दर्भ में ही सन् 1960 से सन् 1980 तक के काल में व्याप्त मूल्य संक्रमण की स्थितियों पर ही विचार किया गया है । इसमें विवेचन का मुख्य आधार मूल्य संक्रमण को ही बनाया गया है । साथ ही परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में इस मूल्य संक्रमण के बीच स्वस्थ और उच्च मानव-मूल्यों के अस्तित्व को पहचानने का प्रयास हुआ है ।

मूल्य संक्रमण के इस दौर में किसी भी विषय वस्तु या स्थिति से संबंधित सत्य और आदर्श को सन्दर्भानुकूल एक निश्चित मूल्य घोषित कर देना सचमुच में एक कठिन और दुर्लभ कार्य है । क्योंकि कौन सा मूल्य किस काल में, किस परिप्रेक्ष्य में किसी विशेष परिवेश, सन्दर्भ और व्यक्ति के लिए उचित और अनुचित होगा - यह शत-प्रतिशत घोषित सत्य के रूप में नहीं ठहराया जा सकता । कारण हमारे सामने है । हम जानते हैं कि समय के परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति की चेतना, समाज का स्वरूप और मानव मूल्यों

में परिवर्तन अवश्यंभावी है । एक खास समय में जो मूल्य उचित ठहरता है वह अगर भविष्य में अनुचित हो जाए तो आश्चर्यजनक नहीं है । इसीलिए इस परिवर्तनशील संसार में किसी मूल्य विशेष को किसी खास काल के व्यक्ति, समाज और परिवेश के लिए मानक नहीं ठहराया जा सकता । हाँ, संभावना की गुंजाईश तो कहीं भी हो सकती है । इसीलिए एक सीमा तक परिस्थिति और परिवेशानुकूल " अन्य बातें यदि यथावत रहे" तो किसी विशेष मूल्य को समाज में व्यक्ति के जीवनानुकूल मानकर एक मानदण्ड स्थापित किया जा सकता है । क्योंकि विज्ञान जब तक इस जीवन के सम्पूर्ण सत्य को स्पष्टत: उद्‌घाटित करने में पूर्णत: सक्षम नहीं हुआ है, तब तक मानवोत्थान के लिए परम्परा की तरह मानव संभावनाओं के सत्य पर जीवन यापन करने को मजबूर रहेगा ही ।

इसीलिए, प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में सन् 1960 से सन् 1980 के काल की हिन्दी कहानियों द्वारा मूल्य संक्रमण के स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया गया है । इसी अध्ययन व विवेचन क्रम में हम पाते हैं कि इस दौर में मूल्यों का कोई निश्चित स्वरूप स्थिर नहीं हुआ है । बल्कि कुछ मूल्य अपने पुराने रूप में बरकरार हैं तो कुछ का पुराना रूप बिगड़ रहा है। इसी तरह, कुछ नए मूल्य भी पनप रहे हैं तो कुछ में नए एवं पुराने का समन्वित रूप प्रकट हो रहा है । क्योंकि इस मूल्य संक्रमण के दौर में वैयक्तिक चरित्रों के पुराने मानदण्ड बदल रहे हैं । पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों की जगह

वैयक्तिक मूल्यों को प्रश्रय मिल रहा है । आर्थिक मूल्यों के पैमाने से सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य निर्धारित किये जा रहे हैं । राजनैतिक मूल्यों का कोई निश्चित आदर्श नहीं दिखता । व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध, आचार-विचार, रीति-रिवाज, प्रथा-परंपरा और संस्कार में नित्य नवीन परिवर्तन हो रहा है । खासकर सन् 1960 के बाद तो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्यों में जो उद्देश्यहीनता, चारित्रिक विघटन एवं अनुशासनहीनता का बोलबाला हुआ है तो वैयक्तिक नैतिकता को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । अब नैतिकता के प्रतिमान भी बदलने लगे हैं । यही कारण है कि वैयक्तिक नैतिकता के आगे सभी प्रकार के मूल्य गौण हो गए हैं । अतः सन् 1960 से सन् 70 तक के काल को हम मूल्य विघटन का काल भी कह सकते हैं । इस दौर की लगभग हिन्दी कहानियों में विभिन्न तरह के मूल्यों के विघटन को दर्शाया गया है । मगर, ध्यातव्य है कि इस दौर की कहानियों में भी विवाद स्वरूप कुछ स्वस्थ और उच्च मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति का उदाहरण मिल ही जाता है, जो अवश्यंभावी है । साथ ही इसमें पारंपरिक मूल्यों से सम्बद्धता की ललक भी हमें देखने को मिल सकता है ।

लेकिन, सन् 1970 से 1980 के काल में मूल्यों के पहचान की दिशा में हर स्तर से कोई न कोई प्रयास अवश्य दिखाई पड़ जाता है । इसीलिए इस दौर की कहानियों में सामाजिकता, जनवादिता, और राष्ट्रीयता की

छटपटाहत है । समता, न्याय और आदर्श सामाजिक जीवन की तलाश में, मद्धिम स्वर में ही सही, मगर क्रांतिकारिता कहीं न कहीं अवश्य आ जाती है । हालांकि, इस दौर में भी मूल्य विघटन हुआ है और पारंपरिक मूल्यों से सम्बद्धता का वर्णन भी हुआ है । मगर, प्राथमिकता उच्च एवं स्वस्थ मानव मूल्यों को ही दिया गया है ।

यही कारण है कि विभिन्न स्तरों पर तत्कालीन कहानियों में हम मानवतावादी स्वर अवश्य पाते हैं। क्योंकि, उसी दौर से क्षीण स्तर पर ही सही, मगर सामाजिक और आर्थिक वैषम्य के साथ राजनैतिक अराजकता और धार्मिक व सांस्कृतिक दिग्भ्रमिता को दूर करने का प्रयास हर स्तर पर स्पष्टत: शुरू दिखाई देता है । कुल मिलाकर मानवतावाद को स्वस्थ और उच्च जीवन मूल्य माना जाने लगा । अब मानव उत्थान के लिए मानव जीवन में मानवतावाद को एक निश्चित और ठोस मूल्य के रूपमें स्वीकार किया गया है । इसकी उपयोगिता और महत्वपूर्णता को देखकर यह सर्वविदित और सर्व-ग्राह्य हो गया है कि आज के इस मूल्य संक्रमण के दौर में इसे एक स्वस्थ, आदर्श और सत्यनिष्ठ मूल्य माना जाय, जिससे हर स्तर पर नये परिवेश में मानव उत्थान और विकास का मार्ग प्रशस्त होगा । हालांकि, मूल्य संक्रमण के इस दौर में किसी भी तरह के मूल्यों के सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता और सर्वग्राह्यता केलिए भविष्यवाणी करना एक जोखिम भरा कार्य है । क्यों कि मूल्य कब, कहाँ, किस परिप्रेक्ष्य में और कैसे परिवर्तित हो सकता है - यह नहीं